

ੴ

श्री जपुजी दर्पण

अमरजीत सिंघ धवन

੧ਓ सति गुरप्रसादि॥

श्री जपुजी दर्पण

श्री गुरु नानक देव जी कृत

श्री जपुजी साहिब की हिन्दी टीका

अमरजीत सिंघ धवन

श्री जपुजी दर्पण

अमरजीत सिंघ धवन

एम.ए. [अंग्रेज़ी तथा हिन्दी]

द्वितीय संशोधित
एवं
परिवर्धित संस्करण
2014

प्राप्ति-स्थान :

कपूर परिवार,
'मनोहर विला',
280, भगतसिंह पार्क,
आदर्श नगर,
जयपुर-302004 (राजस्थान)

मूल्य : **आप पढ़ें
और
अधिक से अधिक
मित्रों को
पढ़ायें।**

मुद्रक :

मनोहर आर्ट प्रिंटर्स,
जयपुर।

विषय-सूची

श्री जपुजी दर्पण
का
यह संशोधित संस्करण
स्वर्गीय
सरदार मनोहर सिंघ जी कपूर
तथा
उनकी धर्मपत्नी
सरदारनी अजैब कौर जी कपूर
की याद में
कपूर परिवार (जयपुर)
की ओर से
धर्मार्थ वितरण हेतु
भेंट किया जा रहा है।

समर्पण

जगदाधार, कर्तार, स्वामी !
आप ही की अपार कृपा से,
इस तुच्छ कीट द्वारा
यह सेवा
सम्भव हो सकी है।
अत:
हे! दीनबन्धु, कृपासिन्धु, पिता!
कृपया इसे स्वीकार कीजिये!

अकिंचन
धवन

द्वितीय संस्करण की भूमिका

अक्तूबर २०१२ में मुझे बड़ी बहन, सरदारनी अजैब कौर, का देहान्त हो जाने के कारण, जयपुर जाने का अवसर मिला। हमारे जीजा, सरदार मनोहर सिंघ कपूर, जी का देहान्त पहले ही हो चुका था।

संतप्त परिवार के साथ बैठे-बैठे मैंने अपने भानजे, चिरंजीव मनमोहन सिंघ से कहा— देखो परिवार के बुजुर्ग एक-एक कर परलोकगमन करते जा रहे हैं। हमारे पूज्य माता-पिता— सरदारनी ईशर कौर जी और सरदार गुरमुख सिंघ जी— कई वर्ष पहले चले गये थे और अब आपके माता-पिता भी नहीं रहे। क्यों न हम मिल-जुल कर कुछ ऐसा करें जिससे हम सांसारिक जीवों को मानव जीवन का उद्देश्य समझ में आ सके और उसे प्राप्त करने की सहज, सरल राह की जानकारी भी मिल सके। मेरी बात सुनकर उसने तुरन्त अपनी सहमति प्रकट कर दी। परिवार के अन्य सदस्यों के साथ विचार-विमर्श करने के बाद निर्णय लिया गया कि श्री गुरु नानक देव जी द्वारा रचित 'श्री जपुजी साहिब' की हिन्दी व्याख्या वाली पुरानी पुस्तक 'श्री जपुजी दर्पण' को दुबारा छापकर बिना मूल्य वितरित किया जाये।

श्री जपुजी दर्पण का पहला संस्करण सन् १९६६ में छपा था। सन् १९६९ में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर, ने इसे दुबारा छपवाया था। बहुत वर्षों से यह पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। चण्डीगढ़ वापस आकर ढूँढने पर इसकी एक प्रति हाथ लग गयी। इसके पुनर्मुद्रण से पहले वर्तनी (spellings) आदि की अशुद्धियों को ठीक करने की मनशा से जब मैंने इसे पढ़ना शुरू किया तो मुझे लगा कि इसमें बहुत कुछ ठीक करने तथा गुरुवाणी के अर्थ-भाव को और अधिक स्पष्ट करने के लिए बहुत कुछ जोड़ने की आवश्यकता है। इस दिशा में किये गये प्रयास का फल यह संशोधित संस्करण है।

पुस्तक में अनेक स्थलों पर संशोधन करने के साथ-साथ, 'गुरु नानक सन्देश' तथा व्याख्या के बहुत सारे अंश नये सिरे से लिखे गये हैं। आठ नये परिशिष्ट भी जोड़ दिये गये हैं। साथ ही यह भी महसूस किया गया कि श्री जपुजी साहिब का शुद्ध और स्पष्ट पाठ करने के लिए अनेक स्थलों पर अल्प-विराम देना ज़रूरी है। इस ज़रूरत को पूरा करने के लिए, गुरुवाणी भाग में, संबंधित स्थलों पर अल्प-विराम के चिह्न (,) लगा दिये गये हैं। पाठ करते समय जहाँ अल्पविराम का चिह्न आता है वहाँ, इसके बाद आने वाले शब्द का उच्चारण करने से पहले, थोड़ा रुकना ज़रूरी है।

सबसे पहले परम पिता वाहिगुरू जी का हार्दिक शुक्र है जिन्होंने आवश्यक

प्रेरणा और बल प्रदान करके यह पुस्तक लिखने का शुभ, परन्तु कठिन, कार्य करवा लिया।

इस संस्करण को तैयार करने के लिए निम्नलिखित ग्रन्थों की सहायता ली गयी है—

१. श्री गुरू ग्रंथ दर्पण (१० भाग)–*प्रो. साहिब सिंघ, डी लिट.।*

२. संथया स्री गुरू ग्रंथ साहिब (पोथी पहिली)– *भाई साहिब डॉ. वीर सिंघ।*

३. गुरू शब्द रत्नाकर–**महान कोश**– *भाई कान्ह सिंघ नाभा* ।

४. तुक–ततकरा–*संपादक, स. अमर सिंघ* ।

५. मानक हिन्दी कोश (पाँच भाग)–*प्रधान संपादक, रामचन्द्र वर्म्मा* ।

मैं उपरोक्त विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही, उन अन्य सभी विद्वानों को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन की रचनाओं से समय-समय पर सहायता ली गयी है। मेरी अर्धांगिनी सरदारनी हरभजन कौर और बच्चों द्वारा दिये गये सहयोग की प्रशंसा किये बिना भी नहीं रह सकता। प्रूफ़ पढ़ने में हाथ बँटाने के लिए प्रिय मित्र सरदार इन्द्रजीत सिंघ भाटिया का भी हार्दिक धन्यवाद!

श्री जपुजी दर्पण के इस संस्करण को कपूर परिवार धर्मार्थ वितरण के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित कर रहा है जिसके लिए इस परिवार के सभी सदस्य साधुवाद के अधिकारी हैं।

मैं इस तथ्य को विनम्रता-पूर्वक स्वीकार करता हूँ कि गुरुवाणी का अर्थ-भाव बहुत गहन है और निश्चित रूप से मेरी सोच-शक्ति से बहुत ही ऊँचा है। इसलिए श्री जपुजी साहिब की इस टीका में अनेक गलतियाँ रह जाने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। अत: पाठकों से नम्र निवेदन है कि उन्हें जो भी अर्थ-भाव आदि की गलतियाँ नज़र आयें, वे कृपया उन की ओर मेरा ध्यान अवश्य दिलायें ताकि उन पर पुनर्विचार करके यथासम्भव अपेक्षित संशोधन किया जा सके।

इस पुस्तक में जो कुछ भी ठीक या अच्छा लगे वह परम पिता वाहिगुरु जी की बख़्शिश है और जो कमियाँ नज़र आयें उनका कारण मेरी अल्पज्ञता है।

भुलण अंदरि सभु को,
अभुलु गुरू करतारु!

–सिरीरागु महला १. श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६१

१३ अप्रैल, २०१४

अमरजीत सिंघ धवन
मकान नं. ३३३८,
सेक्टर ३५-डी,
चण्डीगढ़।

आमुख

–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि भाई अमरजीत सिंह जी धवन ने जपुजी की हिंदी व्याख्या प्रस्तुत की है। 'जपुजी' आध्यात्मिक जगत् का अनमोल रत्न है। यह आध्यात्मिक अनुभूतियों का निचोड़ है। अत्यन्त सहज भाषा में अतीव प्रभावशाली ढंग से दुर्लभ ज्ञान को सुलभ बनाने वाले ग्रन्थों में यह बहुत ऊँचे स्थान का अधिकारी है। निरन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा निर्मलीभूत चित्त से निकला हुआ यह पवित्र ज्ञान पाठक के चित्त में अपूर्व भावभूमि प्रस्तुत करता है। वाणी में विश्वास की इतनी बड़ी शक्ति है कि पाठक के चित्त में किसी भी अवस्था में दुविधा या संशय नहीं उत्पन्न होने देती। इस महिमाशालिनी रचना को पढ़ने से उस सिद्धान्त के प्रति पूर्ण आस्था पैदा होती है जिसमें कहा गया है कि वाणी वक्ता के हृदय की जिस गहराई से निकलती है उसी गहराई में श्रोता को प्रभावित करती है।

तन्त्रों और अन्य आगम ग्रन्थों में जप की बड़ी महिमा बताई गई है। परन्तु यह भी बताया गया है कि जिस मंत्र या नाम का जप किया जाता है यदि वह बिना समझे बूझे केवल मुँह से उच्चारण किया जाता रहे तो सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। मंत्र तभी 'मंत्र' (मनन-युक्त) होता है जब उसके द्वारा काम्य देवता का ध्यान भी किया जाये। उसके बिना मंत्र जड़ होता है, वह साधक को अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं ले जा सकता। मंत्र को इस योग्य बनाने की प्रक्रिया को 'मन्त्र-चैतन्य' सिद्ध करने की क्रिया बताया जाता है। सभी संप्रदाय के तन्त्रों में अंगन्यास, ध्यान, मुद्रा आदि की विधियां इसी मंत्र-चैतन्य की सिद्धि के लिए बताई जाती हैं। तन्त्रों के साहित्य में इनका बड़ा विस्तार है परन्तु लक्ष्य, मन्त्र-चैतन्य की सिद्धि ही है और मन्त्र-जप के द्वारा जिस व्यक्ति का देवरूप में ध्यान किया जाता है वह 'उत्पादित देवता' होता है, 'नित्य-देवता' नहीं।

मन्त्र-जप का चरम-रूप है उस परमा शक्ति के साथ एकमेक होना जो समस्त शक्तियों का मूल है। सन्तों की 'सहज-साधना' में इन उत्पादित देवताओं के लिए जप करने को छोड़ने और मूलशक्ति के ही स्मरण मनन करने पर बल दिया गया है। कबीर ने कहा था कि 'हरि सागर जनि बीसरै, छीलर देखि अनन्त' अर्थात् ऐ मन, तू अनेक छोटे-छोटे जलाशयों के चक्कर में पड़कर हरि रूपी समुद्र को न भूल जा। तन्त्रों में जो

'ध्यान' है उसे सन्तों की 'सहज-साधना' में 'सुमिरन' का रूप प्राप्त हुआ है। अनेक मन्त्रों के स्थान पर केवल एक 'नाम' का ग्रहण किया गया है। समूचे अक्षर-तत्त्व को 'नाम' में समेट लिया गया है और सारी सिद्धियों का तिरस्कार करके एक ही महासिद्धि-भक्ति-को स्वीकार किया गया है। मैंने अपनी पुस्तक "सहज-साधना" में यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार पूर्ववर्ती साधना के जटिल विधान को संतों ने सहज, लोकगम्य साधना का रूप दिया है। इस दृष्टि से 'जपुजी' बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है।

"जपुजी" में श्रवण-मनन, नाम-नामी का प्रत्यय, जगत्-प्रपंच का मूल कारण, गुण-संकीर्तन, भगवन्महिमा आदि तत्वों को इतनी शक्तिशाली और सहज भाषा में कहा गया है कि शास्त्रीय प्रपंच एकदम म्लान लगने लगते हैं। भगवान् की महिमा पर अखण्ड विश्वास इसकी शक्ति है, सब कुछ की सत्ता प्रभु-प्रसाद और प्रभु-आदेश पर आश्रित मानना इसका साधन है। परमानंद-सन्दोह, समस्त गुणों के आकर, सर्वसमर्थ, अविगतिगति प्रभु की भक्ति इसका लक्ष्य है। भावों का अविरल प्रवाह इन बातों को सहजग्राह्य बनाता है और परमात्मा की कृपा के प्रति अपूर्व निष्ठा इसे चित्त में अविचल बना देती है। चित्त की चंचलता के शमन का ऐसा भक्तिपरक योग बहुत कम देखने को मिलता है। आश्चर्य नहीं कि इस रचना ने हजारों लाखों का मार्गदर्शन किया है और न जाने कितनों को भगवत्-प्रेम की दीपशिखा दी है। प्रत्येक पाठ के बाद इससे नया आलोक मिलता है।

'धवन जी' के इस शुभ प्रयास से यह ग्रन्थ हिंदी जानने वालों के लिए सुलभ हुआ है। सभी भक्त-जन हृदय खोलकर इसका स्वागत करेंगे। परमात्मा उन्हें दीर्घ आयु और स्वास्थ्य दें और इस प्रकार के मंगल प्रयत्नों की सतत् प्रेरणा देते रहें।

चण्डीगढ़
१५-९-१९६६

वक्तव्य

'जपुजी' श्री गुरु नानक देव जी की अमर-रचना है। इसकी छोटी सी काया में शाश्वत मानव-धर्म का उच्च-कोटि का ज्ञान निहित है जिसे आत्मसात् कर लेने से मानव-जीवन की विषम उलझनें सहज ही में सुलझ जाती हैं। धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से इस पावन कृति का बहुत महत्व है। गुरुवाणी में श्रद्धा रखने वाले कोटि नर-नारी प्रातः प्रतिदिन इसका मंगल पाठ करते हैं और अपने संघर्षमय सांसारिक जीवन में सुख-शांति के हेतु एक स्वस्थ जीवन-दृष्टि प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत 'श्री जपुजी दर्पण' गुरु साहिब के इसी अमर और महामहिम सन्देश को समझने-समझाने का पुण्य-प्रयास है जिसे अध्यात्म-तत्व के परम जिज्ञासु श्री अमरजीत सिंह धवन ने कई वर्षों के स्वाध्याय के परिणामस्वरूप बड़ी श्रद्धा से सरल हिंदी-भाषा में प्रस्तुत किया है। इस अनुवाद को प्रस्तुत करने में श्री धवन ने काफ़ी परिश्रम किया है; मूल के गूढ़ आशय को स्पष्ट करने के लिए यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार उन्होंने संक्षिप्त व्याख्या का आश्रय लिया है और मूल के कठिन शब्दों के सरल अर्थों को टिप्पणी के रूप में नीचे दे दिया है।

श्री धवन जी का संपूर्ण प्रयास दुरूह दार्शनिक जटिलताओं से सर्वथा मुक्त है और इसी अनुपात से सर्वग्राह्य भी।

नागरी अक्षरों में इस सरल हिंदी अनुवाद को प्रस्तुत करके श्री धवन जी निस्सन्देह एक सराहनीय कार्य कर रहे हैं जिससे आज के इस संतप्त एवं विकल युग में अवश्य ही अधिकाधिक जनों का भला होगा। इस पुण्य प्रयास के लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

डॉ. सरनदास भनोत
एम.ए., पीएचडी.
रीडर, हिन्दी विभाग
पंजाब यूनिवर्सिटी

दो शब्द

श्री जपुजी पर विभिन्न टीकाएँ हिन्दी तथा पंजाबी में उपलब्ध हैं। प्रत्येक टीकाकार अपनी ओर से 'श्री जपुजी' के अर्थों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न करता है, किन्तु गुरुवाणी के गहन अर्थों का स्पष्टीकरण उतना सरल नहीं है।

प्रस्तुत टीका की हस्तलिपि मैंने पढ़ी और मुझे लगा कि इसमें गुरुवाणी को सरस तथा सरल भाषा में हिन्दी के पाठकों के सामने लाया गया है। हिन्दी जगत् के पाठक इस कृति से जपुजी को वास्तविक रूप में ही समझ सकेंगे। वास्तव में, श्री जपुजी की भाषा हिन्दी के उतने ही समीप है जितनी पंजाबी के। इससे पंजाबी भाषा को जानने वाले हिन्दी पाठक जपुजी के अर्थों को बिल्कुल भी न समझते हों, ऐसी बात नहीं। समझते हुए भी यह टीका मूल के विशेष निकट होने से पाठकों के लिए बड़ी उपादेय है।

सरदार अमरजीत सिंह जी की लेखनी शुद्ध, सरल तथा सरस भाषा का उद्‌गार करती है।

टीकाकार ने मूल-वाणी को अंकित करके नीचे केवल कठिन शब्दों के अर्थ ही नहीं दिए हैं, अपितु आवश्यक पाद-टिप्पणी भी दी है। इन दोनों के बीच में गुरुवाणी की व्याख्या की गई है। ऐसा आभास होता है कि मूल और शब्दार्थ रूपी दो किनारों के बीच एक सरस एवं शान्त स्रोतस्विनी अपना मार्ग तय करती जा रही है।

इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता 'कम शब्दों में गहन भावों का प्रकटीकरण' है; टीकाकार ने गागर में सागर भरा है।

इसे पढ़कर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कृति टीकाकार के दीर्घकालीन अथक परिश्रम और शुद्ध, सच्ची भक्ति, निष्ठायुक्त गहन अध्ययन तथा मनन का एक अपूर्व फल है। वास्तव में, हार्दिक निष्ठा और श्रद्धा के बिना ऐसी रचना सम्भव नहीं हो सकती।

मुझे आशा और पूर्ण विश्वास है कि लेखक के सफल परिश्रम द्वारा रचित इस टीका का हिन्दी संसार स्वागत् करेगा और यह टीका उचित सम्मान प्राप्त करेगी।

श्री अमरजीत सिंह जी के इस सफल प्रयास को देखकर उनसे भविष्य में बहुत कुछ करने की अपेक्षा की जा सकती है और मेरा विश्वास है कि यह आशा सफल होगी।

मदन मोहन शर्मा
सर्व-दर्शन धर्म-शास्त्री वेदाचार्य, एम.ए.
अध्यापक, संस्कृत-विभाग
Member Languages Faculty (Pb. University)

कृतज्ञता-प्रकाशन

परमब्रह्म-पिता की अपार कृपा द्वारा इस पुस्तक के लेखन, परिमार्जन तथा प्रकाशन में जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ, वह निम्नलिखित के अनुसार है।

सन्त साहित्य के सुविख्यात मनीषी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'आमुख' लिख कर तान्त्रिक तथा सन्त-साधना के परिप्रेक्ष्य में 'जप' का विवेचन प्रस्तुत करके विषय के इस अभिन्न अंग को स्पष्ट कर दिया है। इसके लिए लेखक उनका हार्दिक ऋणी तथा आभारी है।

गुरुवाणी प्रेमी डॉ. सुरेन्द्र सिंह जी कोहली (पंजाबी विभाग-अध्यक्ष, पंजाब विश्वविद्यालय) तथा प्रो. दिलीप सिंह जी दीप (पंजाब एग्रीकल्चर यूनिवर्सिटी, हिसार) ने सारी व्याख्या सुनकर अपनी प्रौढ़ सम्मति दी तथा इस कृति को शीघ्र प्रकाशित करवाने का सुहृद् प्रोत्साहन दिया।

वेदाचार्य श्री मदन मोहन शर्मा जी ने हस्तलिपि को पढ़ा और इसके प्रकाशन में बड़ा उत्साह दिखाते हुए इस रचना पर 'दो शब्द' लिख दिये।

डॉ. सरनदास भनोत जी ने 'दर्पण' को पढ़ कर उस पर 'वक्तव्य' लिख भेजा और भाई इन्द्रसिंह गुलाटी जी ने एक सौ प्रतियों का खर्च अग्रिम देकर इस टीका के प्रकाशन में उत्साह बढ़ाया। प्रिय मित्र श्री रामस्वरूप गुप्त ने प्रूफ़ पढ़ने में मेरा हाथ बंटाया।

उपर्युक्त सज्जनों तथा अनेक अन्य विद्वानों के प्रति, जिनके सहयोग से यह कार्य सम्पूर्ण हो सका है, लेखक अति कृतज्ञ है।

सितम्बर, १९६६

अमरजीत सिंघ धवन
लाईफ इन्श्योरेन्स कॉर्पोरेशन ऑफ इण्डिया
सैक्टर १७-चण्डीगढ़ ।

निवेदन

'जपुजी' जगद्गुरु, श्री गुरु नानक देव जी की अमर रचना है। यह सिख-पन्थ के धर्म-ग्रन्थ की आदि वाणी है। इसकी सूत्रात्मक शैली का ध्यान रखते हुए यदि इसे 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' की प्रस्तावना या सार कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

'जपुजी' में दर्शन और काव्य का सामंजस्य बड़े ही अद्भुत एवं मनोहर ढंग से हुआ है। 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' की अन्य वाणियों की तरह इसके आरम्भ में किसी राग का संकेत नहीं दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह वाणी व्यक्तिगत चिन्तन एवं स्वाध्याय के लिए है। वैसे, सहज ही इसे बड़े मधुर स्वर में गाया भी जा सकता है। इसकी अड़तीस पउड़ियाँ हैं और इसके आदि तथा अन्त में एक-एक श्लोक है। इसमें मानव जीवन की मौलिक समस्याओं के संक्षिप्त हल देकर प्रभु-मिलन की सरस एवं स्पष्ट राह दिखाई गयी है।

यह वाणी इतनी लोकप्रिय है कि इसके प्रकट होने के समय से ही असंख्य लोगों का हर दिन इसके पाठ से प्रारम्भ होता आया है। वर्तमान काल में भी संसार के कोने-कोने में श्रद्धालु जन इसे अपने कंठों का हार बनाये हुए हैं। अपने शाश्वत दर्शन एवं सार्वभौमिक सत्सन्देश के फलस्वरूप भविष्य में भी 'जपुजी' माया-प्रताड़ित आत्माओं को शान्ति देकर मानव मात्र का सदैव पथ-प्रदर्शन करती रहेगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

श्री गुरु जी के अध्यात्मवाद एवं दर्शन का मूल-सूत्र होने के कारण 'जपुजी' में निहित सूक्ष्म भावनाओं को समझना अति कठिन है। कई वर्ष पहले जब मैंने 'जपुजी' का पाठ करना आरम्भ किया तो धीरे-धीरे बड़ा आनन्द प्राप्त होने लगा। एक बार मन में अचानक अर्थ जानने की इच्छा हुई। कई सज्जनों से अर्थ समझने की चेष्टा की तो उनमें से बहुतों को अपने जैसा ही पाया। फिर मन में एक संशय-सा उत्पन्न हुआ कि बिना अर्थ समझे पढ़ने का क्या लाभ? यह प्रश्न कई मित्र जनों के सम्मुख उठाया गया तो उत्तर मिला कि संसार के लगभग सभी धर्म-ग्रन्थ ऐसी भाषाओं में हैं जो उनके सभी अनुयायियों की समझ में नहीं आतीं। तो क्या वे उन्हें पढ़ना-समझना छोड़ देते हैं? फिर, 'जपुजी' तो पंजाब के, जन-साधारण की भाषा, पुरानी पंजाबी, में ही है जो अब अपने नूतन रूप में पंजाब-निवासियों की मातृ-भाषा है। अस्तु!

पाठ जारी रहा जिसका बड़ा लाभ यह हुआ कि ध्यान पहले से अधिक जमने लगा और अर्थ भी धीरे-धीरे अपने-आप कुछ-कुछ साफ़ होने लगे। 'जपुजी' की कई टीकाओं का अध्ययन किया गया। हर पुस्तक में कोई न कोई नई बात देखने को मिली। जितनी पुस्तकें सामने आयीं उनमें से कुछ तो अधिक पुरानी होने के कारण काफ़ी कठिन थीं और कुछ में मूल पाठ की एक-एक पंक्ति के कई-कई अर्थ दिए गये थे जो लाभकारी होने की अपेक्षा संशय और ठीक अर्थ ग्रहण करने में असुविधा अधिक उत्पन्न करते हैं।

'जपुजी' की टीकाएँ पंजाबी भाषा में ही सर्वाधिक उपलब्ध हैं। परन्तु देश में पंजाबी की अपेक्षा हिन्दी-भाषा का ज्ञान रखनेवालों की संख्या कहीं अधिक है। अत: हिन्दी-भाषी संसार को भी इस अमूल्य-निधि, गुरुवाक् का रसास्वादन अवश्य कराना चाहिए परन्तु इस ओर सीमित-से प्रयास ही पहले हुए हैं।

'जपुजी' की जो दो-चार पुरानी टीकाएँ हिन्दी-भाषा में उपलब्ध हैं, उनमें गुरुवाणी के भाव को वेदान्त की दृष्टि से प्रकट करने का प्रयास किया गया है। वर्तमान काल में डॉ. जयराम मिश्र, वियोगी हरि और विनोबा जी के प्रयास स्तुत्य हैं।

विनोबा जी इस वाणी से बड़े ही प्रभावित हुए हैं। वे अपनी पुस्तक 'जपुजी' के भाष्य भाग के प्रारम्भ में लिखते हैं-"जपुजी में धर्म का निचोड़ रखा गया है। ... मुझे यह बहुत भाया है। ... उसका मुझ पर बहुत गहरा असर पड़ा। रात में कभी स्वप्न आये तो उसमें भी गुरु नानक के वचन याद आते थे। चिंतन से उन वचनों का गहरा अर्थ मालूम होता है। इसका जितना चिंतन करो, उतना अधिक मिलता जाता है। मैं चाहता हूँ कि इस का असर हिंदुस्तान के लोगों के चित्त पर हो।"

विनोबा जी के उपरोक्त विचार किसी भी स्वतन्त्र विचारक के, जो श्रद्धापूर्वक गुरुवाणी का अवगाहन करे, हो सकते हैं क्योंकि 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' का अध्ययन करने पर, सहज ही ऐसा ज्ञात हो जाता है कि गुरुवाणी किसी एक जाति, धर्म, प्रान्त या देश की थाती नहीं है। वह तो सर्वविश्वहिताय है। भला, सूर्य भी किसी एक के लिए उदित होता है?

श्री गुरु जी निस्सन्देह मानवता के पथ-प्रदर्शक, आदर्श सन्त, आध्यात्मिक कवि एवं ज्ञानज्योति-परिपूर्ण मार्तण्ड थे। उनकी वाणी देश, काल, पात्र आदि की सीमाओं से स्वतन्त्र मधु-मधुर संगीत-लहरी भरी वह आत्म-गंगा है जो सर्वत्र, सबके लिए उपस्थित

है। जो चाहे उसमें स्नान करके माया के ताप से विमुक्त होकर परम-शीतलता का आनन्द ले सकता है। इसी आशय को ध्यान में रखकर यह पुस्तक हिन्दी में लिखी गयी है।

आशा है, यह प्रयास अपनी राह पर अग्रसर होकर हिन्दी संसार की सेवा का भागीदार बन सकेगा।

इस कृति में अनुवाद के साथ-साथ संक्षिप्त रूप में आवश्यक व्याख्या भी दे दी गयी है ताकि अर्थ अधिक स्पष्ट हो सकें। शब्दों के जाल में अधिक न उलझ कर उनके पीछे व्यक्त हो रही भावना को छूने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। इस प्रयास में कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी है, यह पाठकगण स्वयं ही जान लेंगे। वैसे, लेखक का ऐसा कोई आग्रह नहीं है।

विनीत
अमरजीत सिंघ धवन

वाहिगुरु तेरा शुक्र है !

जपुजी-रचयिता श्री गुरु नानक देव

(संक्षिप्त परिचय)

परिवर्तन प्रकृति का एक अनिवार्य गुण है जो सदा, सर्वत्र, होता रहता है। मानव-जीवन में भी नवीनता का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सम्भवत: इसीलिए कहा जाता है कि 'परिवर्तन जीवन है।' परन्तु जीवन परिवर्तन-चक्र पर सवार होकर कभी उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और कभी अवनति के गर्त्त में जा पड़ता है। इसी प्राकृतिक प्रवाह के आवर्त्त में घिरे हुए, पन्द्रहवीं शती तक, भारतवर्ष की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति अत्यंत शोचनीय हो गयी थी।

लगभग छ: सौ वर्ष तक निरन्तर लूटमार करने के पश्चात् मुसलमान आक्रमणकारियों ने अपने पाँव उत्तरी भारत में जमा लिये थे। और, अब अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए वे हर प्रकार के घिनौने तथा अमानुषिक ढंगों से हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में सयत्न थे। हिन्दू समाज पारस्परिक फूट के कारण अपनी राजनैतिक सत्ता खो कर 'दास-वंश' की 'दासता' को भी स्वीकार कर चुका था। हिन्दुओं की यह दासता केवल राजनैतिक ही न होकर व्यावहारिक एवं मानसिक रूप धारण करती जा रही थी। वे धीरे-धीरे शासक समाज का अनुसरण करके अपनी सभ्यता, धर्म, सदाचार, आत्म-सम्मान आदि को भूलते जा रहे थे।

तत्कालीन मुसलमान शासकों के स्वभाव में, धार्मिक-संकीर्णता एवं क्रूरता का तीक्ष्ण पुट था। 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' में तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का वर्णन इस प्रकार मिलता है-

"(आजकल) अपरितोष तथा पाप दोनों राजा और राज्य-सचिव हैं। मिथ्याचरण उनकी टकसाल का अध्यक्ष है। भोगविलास उनका सामन्त है जिसके साथ बैठकर विचार-विमर्श किया जाता है। प्रजा ज्ञान-नेत्र-विहीन, स्वेच्छा-रहित, मृतक की तरह (लोलुपता, पाप, मिथ्याचरण और काम आदि की) अग्नि की लपेट में है[१]। राजा, शेरों

---

१. लबु पापु दुइ राजा महता कूड़ु होआ सिकदारु॥
कामु नेबु सदि पुछीऐ बहि बहि करे बीचारु॥
अंधी रयति गिआन विहूणी भाहि भरे मुरदारु॥
वार आसा, महला १, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ ४६८-९

की तरह हिस्र हैं और उनके कर्मचारी कुत्तों की तरह नीचाचारी होकर निर्दोष जनता का रक्त-मांस भक्षण करते हैं।''[१]।

प्रजा मुख्यतः 'हिन्दू' तथा 'मुसलमान' दो श्रेणियों में बँटी हुई थी। मुसलमान राज्य के मद में मस्त होने के कारण हिन्दुओं को अपने से नीच समझ कर उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट देना ही अपना कर्त्तव्य बनाये हुए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों पक्ष एक दूसरे के निकट न आकर सामाजिक फूट का शिकार बन गये।

धार्मिक उपदेशक स्वयं अज्ञान-अन्ध होने के कारण जनता को ठीक राह दिखाने में असमर्थ एवं अयोग्य थे, जिसके फलस्वरूप लोग साधनों (means) को ही साध्य (ends) समझ कर अर्थहीन रीतियों-कुरीतियों के भ्रमजाल में फँसे हुए असहाय छटपटा रहे थे। उस असत्य की अमावस में सत्य का चन्द्रमा अदृश्य हो चुका था और जनता भयावह अन्धकार में पथ-भ्रष्ट हुई ठोकरें खा रही थी।[२]

अटल ईश्वरीय नियम के अनुसार हर रात्रि के पश्चात् आने वाली उषा की तरह मध्यकालीन 'भक्ति लहर' भावी नवयुग का सन्देश लेकर आयी। इसी दौरान, सन् १४६९ ईस्वी में पंजाब के तलवण्डी नामक गाँव (वर्तमान पश्चिमी पाकिस्तान के 'ननकाना साहिब') के पटवारी श्री कल्याण चन्द के घर, संत-प्रवर, श्री गुरु नानक देव जी के रूप में पूर्ण 'ज्ञान-ज्योति-भास्कर' का उदय हुआ। उनकी सती-साध्वी माता का नाम 'तृप्ता' जी था।

बाल्यकाल में ही श्री गुरु नानक देव जी में असाधारण साधुता और आध्यात्मिकता के चिह्न लक्षित होते थे। वे बड़े कुशाग्रबुद्धि तथा प्रवीण थे। विद्या-अध्ययन की अपेक्षा धर्म-चर्चा में उनकी प्रगाढ़ आसक्ति थी। वे अपने शिक्षकों से जीवन-रहस्य के विषय में ऐसे अति गम्भीर प्रश्न पूछा करते थे जिन की मीमांसा कर सकना उनके शिक्षकों की क्षमता से बाहर की बात थी। इस तरह बालक नानक अपने अध्यापकों के भी गुरु

---

१. राजे सीह मुकदम कुते।। जाइ जगाइन्हि बैठे सुते।।
चाकर नहदा पाइन्हि घाउ।। रतु पितु कुतिहो चटि जाहु।।
वार मलार, महला १, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ १२८८

२. कूड़ु अमावस सचु चंद्रमा दीसै नाही कह चड़िआ।।
हउ भालि विकुंनी होई।। आधेरै राहु न कोई।।
वार माझ, महला १, वही, पृष्ठ १४५

बनकर उन्हें, लेखन-पठन का आध्यात्मिक एवं तात्त्विक उपदेश दे आते थे।[१]

कुछ बड़े होने पर पिता श्री कल्याण चन्द जी ने उन्हें कृषि आदि कोई कारोबार करने को कहा तो नानक देव जी ने उत्तर दिया कि वे 'अपने शरीर को ही भूमि बनाकर उसमें दैवी गुणों की सहायता से आन्तरिक कृषि करते हैं[२]।' उनके विचारानुसार प्रत्येक सांसारिक व्यवसाय का एक आध्यात्मिक पक्ष है जिसकी ओर ध्यान दिये बिना मनुष्य का कोई भी कार्य सार्थक नहीं हो सकता।

श्री कल्याण चन्द जी को अपने पुत्र के भविष्य की चिन्ता निरन्तर सताती रहती थी। उन्होंने एक बार नानक जी को कुछ धन देकर व्यापार करने के लिए कहीं बाहर भेजा। मार्ग में कई भूखे साधु मिल जाने पर नानक जी अपनी सारी पूँजी उनके लिए भोजन और कपड़े आदि जुटाने में ख़र्च कर आये। उनकी दयार्द्र दृष्टि में सर्वहारा की सहायता करना ही सच्चा सौदा अथवा व्यापार है।

नानक जी अब पहले से अधिक मौन और उदासीन रहने लगे थे। इस पर उनके माता-पिता ने सोचा कि 'नानक कहीं बीमार न हो।' यह विचार मन में कौंधते ही एक सुयोग्य वैद्य को उनका इलाज करने के लिए बुलाया गया परन्तु वह रोग की पहचान करने में ही असफल रहा। क्या कभी नाड़ी-परीक्षण करके भी मनोभावों को समझा जा सकता है?

इसके बाद माता-पिता की चिन्ता दुःख में परिवर्तित हुई देखकर नानक देव जी की बड़ी बहन 'नानकी' जी उन्हें अपने पास सुलतानपुर ले गयीं। वहाँ उन्होंने तत्कालीन नवाब दौलत खाँ लोधी के मोदीखाने में नौकरी कर ली। काम में लगे देखकर श्री गुरु जी का विवाह बटाला नगर के क्षत्री-वंशीय मूलचन्द जी की सुपुत्री सुलक्षणी जी से कर दिया गया। उनके 'श्रीचन्द' और 'लक्ष्मीदास' नामक दो पुत्र भी उत्पन्न हुए। परन्तु श्री गुरु जी का अन्तर्मन सदैव साधु-सन्तों की संगति की ओर खिँचा रहता था। वे सदा अन्तर्मुख होकर हरि-नाम के रंग में रंगे रहते थे। मोदीखाने में कई बार जब सामान

---

१. जालि मोहु घसि मसु करि मति कागदु करि सारु॥
भाउ कलम करि चितु लेखारी गुर पुछि लिखु बीचारु॥
सिरीरागु, महला १, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ १६

२. मनु हाली किरसाणी करणी सरमु पाणी तनु खेतु॥
नामु बीजु संतोखु सुहागा रखु गरीबी वेसु॥
सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ५९५

तौलते-तौलते 'तेरह' की संख्या पर आते तो ('हे प्रभु! सब कुछ तेरा ही है।'-इस भाव से) 'तेरा, तेरा' उच्चारण करते हुए आत्मविभोर होकर ढेर सारा सामान तौल देते। उनकी यह 'असावधानता' देखकर साधारण जनता में ऐसी चर्चा फैल गई कि 'नानक मोदीखाना लुटाये जा रहा है।' यह समाचार नवाब के कानों तक भी जा पहुँचा। उसने तुरन्त जाँच करवायी तो सारा हिसाब-किताब साफ़ देखकर सभी अवाक् रह गये।

अन्त, जनता को दासता, द्वेष, दम्भ आदि की अग्नि में जलते हुए देखकर राजयोगी श्री गुरु जी से रहा न गया और वे परम शीतल हरि-नाम रूपी अमृत के अखण्ड भण्डार मानव-मात्र के हितार्थ सर्वत्र उपलब्ध करा देने के लिए घर से एक ऐसे पर्यटन पर निकल पड़े जो संसार के इतिहास में सूर्य की तरह अद्वितीय रूप से ज्वलन्त है।

उस समय मोटर, रेल, वायुयान आदि यातायात के किसी भी आधुनिक साधन का आविष्कार नहीं हुआ था। अत: श्री गुरु जी ने पैदल ही चार लम्बी यात्राएँ करके न केवल सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया, अपितु लंका, अरब (मक्का, मदीना आदि), ईरान, मिस्र, बग़दाद, काबुल, कंधार, सिक्किम, तिब्बत आदि विदेशों में भी जाकर मानव-धर्म का प्रचार किया। वे पहले युग-पुरुष थे जिन्होंने स्वदेश से बाहर जाकर धर्म-प्रचार एवं समाज-सुधार को इतना व्यापक रूप दिया था।

श्री गुरु नानक देव महान् क्रान्तदर्शी मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने काल की चाल को पहचाना, समाज के मानस का सम्यक् अध्ययन किया और युग को अत्यन्त कुशलतापूर्वक एक प्रगतिशील, समन्वयात्मक राह पर मोड़ दिया। स्वभावत: परम-शांतिप्रिय होने पर भी वे अपने समय के पहले क्रांतिकारी राजनैतिक नेता थे जिन्होंने लोगों में पौरुष तथा आत्म-सम्मान की भावना को पुन: जागृत किया।

परिभ्रमण समाप्त करने के पश्चात् श्री गुरु जी अपने बसाये हुए 'करतार पुर' नामक गाँव में रहने लगे। वे स्वयं अपने हाथों से कृषि करके अपने परिवार का निर्वाह करते थे। उन्होंने वहाँ पर एक धर्मशाला भी बनवायी थी जहाँ सब जातियों तथा धर्मों के लोगों को धर्मोपदेश, आश्रय और भोजन दिया जाता था।

अपने जीवन काल में ही १४ जून सन् १५३९[१] को, श्री गुरु नानक देव जी ने अपने एक शिष्य 'लहिणा' को 'अंगद' नाम देकर अपनी गद्दी पर बिठा दिया। इस तरह

१ देखिये, प्रो. पिआरा सिंघ पदम, *संखेप सिख इतिहास*, चौथी बार (अमृतसर, सिंघ ब्रदर्ज़, २०००) पृष्ठ २०

श्री गुरु नानक देव जी ने अपनी ज्योति को अपने शिष्य की ज्योति में मिलाकर अपना रूप और शरीर बदल लिया और इस प्रकार 'लहिणा' जी 'द्वितीय नानक' हो गये।[१]

२२ सितम्बर सन् १५३९ ईस्वी को श्री गुरु नानक देव जी का शरीरान्त हो गया।[२] श्री गुरु नानक देव जी के पश्चात् उनके नौ शरीरों– श्री गुरु अंगद आदि नौ गुरुओं– ने गुरुमत-ज्ञान की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखा। उनके दशम रूप, श्री गुरु गोबिन्द सिंघ जी ने गुरु ज्योति को गुरुवाणी के संग्रह 'आदि-ग्रंथ' में और युक्ति को 'पंथ' (अपने सिख अनुयायी समूह) में प्रविष्ट करके गुरुवाणी, अर्थात् श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, को मानव-मात्र के लिए, शाश्वत शब्द-गुरु के रूप में संस्थापित कर दिया।

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

---

१ थापिआ लहिणा जीवदे, गुरिआई सिरि छत्र फिराइआ।।
जोती जोति मिलाइकै, सतिगुर नानक रूप वटाइआ।। भाई गुरदास, वार १, पउड़ी ४५

२ देखिये, प्रो. पिआरा सिंघ पदम, *संखेप सिख इतिहास*, चौथी बार (अमृतसर, सिंघ ब्रदर्ज़, २०००) पृष्ठ १८

गुरु नानक-सन्देश

(मुख्यत: श्री जपुजी साहिब के आधार पर)

गुरुकुल-शेखर, श्री गुरु नानक देव जी ने सामयिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन करके 'गुरुमत विचारधारा' का प्रचार किया। अपनी प्रचार-यात्राओं के दौरान वे जहाँ भी पहुँचे, अपनी गायन एवं वाक्-शक्ति द्वारा लोगों पर सत्-सन्देश की वर्षा करते चले गये। उनका उपदेश देश, काल, पात्र आदि की सीमा से स्वतन्त्र है और सारे मानव-समाज के लिए है। इसे हरेक व्यक्ति पूरी तरह अपना सकता है। 'श्री जपुजी साहिब' में उनका उपदेश सार रूप में दिया गया है।

श्री जपुजी साहिब के शुरू में दिये मंगलाचरण में श्री गुरु जी ने अपने इष्ट, परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करने के लिए उसके कुछ विलक्षण गुणों का सूत्रात्मक वर्णन किया है। उनके विचारानुसार परमात्मा एक है और केवल एक ही है। वह केवल एक परमात्मा ही अनेक रूपों वाली सृष्टि का कर्त्ता अथवा रचयिता है और स्वयं अपनी रचना में समाया हुआ है। अपनी अनेक-रूपा रचना में समाये होने के बावजूद वह सदा एक ही रहता है; किसी भी तरह उसे भिन्न-भिन्न भागों में बाँटा नहीं जा सकता। न ही उसमें कभी, किसी प्रकार का परिवर्तन आता है। उस सर्वव्यापी, एक कर्तार के बिना इस अनेकरूपा सृष्टि की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

परमात्मा सारे विश्व-रूपी प्रपंच का कारण है। परन्तु, उसका अपना कारण कोई नहीं है। वह स्वयंभू है-अपने आप से है। वह अयोनि है। परमात्मा का न ही कोई पिता है और न माता। वह कभी जन्म नहीं लेता। वह आवागमन अथवा जन्म-मरण के चक्कर से सर्वथा स्वतन्त्र है। वह ज्योति-स्वरूप है; उसका कोई रूप अथवा आकार नहीं है।

सृष्टि का सारा प्रपंच परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर है, नश्वर है। केवल परमात्मा आप ही सत्य है और सदा एकरस विद्यमान रहता है। उसका नाम सच— सत्य, सत् या सत्तायुक्त—है। केवल परमात्मा ही अमृत है, अनश्वर है।

परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। उसे किसी से, किसी प्रकार का, कोई भय अथवा बैर नहीं है। सृष्टि में जो कुछ भी हो रहा है उसे परमात्मा का हुक्म अथवा परमात्मा के द्वारा निश्चित किया हुआ दैवी विधान चला रहा है। इस विधान के नियन्त्रण से बाहर कोई या कुछ भी नहीं है।

केवल परमात्मा ही सृष्टि का पालन करता है। वही एक मात्र दाता है। शेष सभी भिखारी हैं जो सदा उससे याचना करते रहते हैं और वह सब की ज़रूरतों को पूरा करता रहता है। उसके भण्डार अक्षय हैं, अखूट हैं। युग-युगान्तरों से जीव उसका दिया खाते चले जा रहे हैं। उस, सबके दाता, को सदा याद रखना चाहिए, कभी भी भूलना नहीं चाहिए।

आत्मा और परमात्मा का आपस में अंश-अंशी का सम्बन्ध है जैसे बूंद और सागर का। संसार में आकर जीव अहंकार अथवा अज्ञान के कारण अपनी सत्ता को स्वतन्त्र समझने लगता है। इस प्रकार, माया के प्रभाव के कारण, जीव और परमात्मा के बीच असत्य की एक दीवार खड़ी हो जाती है। इसी दीवार के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप और अपने कर्त्ता को भूला रहता है। यदि यह दीवार किसी प्रकार टूट जाये तो जीव परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है; जीव परमात्मा से एकाकार हो सकता है। परमात्मा के हुक्म या विधान के अनुसार अथवा उसकी रज़ा, इच्छा और प्रसन्नता के अनुसार, चलने से ही ऐसा सम्भव हो सकता है।

माया के मोह-जाल में फँसा हुआ मनुष्य, परमात्मा को भूलकर, सांसारिक कार्यों में लीन रहता है और, इसलिए, अपने द्वारा किये हुए कर्मों के फलस्वरूप दुःख-सुख भुगतने के लिए भिन्न-भिन्न शरीरों में आने-जाने के चक्कर में पड़ा रहता है। कुछ लोग कर्म-काण्डीय कर्मों को धर्म-जीवन का अंग समझकर करते चले जाते हैं। श्री गुरु नानक देव जी के मतानुसार आध्यात्मिक उन्नति के लिए ऐसे कर्म लाभकारी नहीं हैं। शरीर को कष्ट देने वाले तप आदि को भी श्री गुरु जी अच्छा नहीं मानते। वे तो सहज साधना द्वारा प्रभु परमात्मा के नाम में अनुरक्त होने को असली तप मानते हैं।

पाप-कर्म करने से मनुष्य की बुद्धि मलीन हो जाती है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है यह मल गहरा होता चला जाता है। और, इस प्रकार आध्यात्मिक पथ से भटका हुआ मनुष्य, परमात्मा को भूलकर, मानव-जीवन के लक्ष्य से दूर चला जाता है। मानव बुद्धि तथा मन के इस मल को साधारण जल अथवा तीर्थों आदि के जल में स्नान करके दूर नहीं किया जा सकता। मनुष्य की बुद्धि और मन के विकारों के मल को धोने के लिए परमात्मा का नाम रूपी जल अचूक साधन है। परमात्मा का नाम ही असली तीर्थ है। इसलिए बाहरले तीर्थों की बजाय आन्तरिक तीर्थ पर मल मलकर स्नान करना चाहिए। परमात्मा के गुणों का गान करना चाहिए, उसके गुणों को सुनना चाहिए और मन

में उसके प्रति पूरी श्रद्धा धारण करनी चाहिए। परमात्मा का नाम बारंबार जप कर, उसकी निरंतर विद्यमानता को बार-बार याद करके, सर्वत्र और सदैव उसके हाज़िर-नाज़िर होने का अहसास अपनी चेतना में दृढ़ता के साथ बसा लेना चाहिए।

परमात्मा तक पहुँचने, उससे एकाकार होने, के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को चैतन्य-विकास अथवा आत्म-विकास की पाँच अवस्थाओं से गुज़रना पड़ता है। इन अवस्थाओं का चित्रण श्री गुरु जी ने, श्री जपुजी साहिब की ३४ से ३७ तक, चार पउड़ियों में किया है। इन अवस्थाओं के नाम क्रमशः 'धरम खंड', 'गिआन खंड', 'सरम खंड', 'करम खंड' और 'सच खंड' हैं। 'सच खंड' साधक के आत्म-विकास का अंतिम पड़ाव है। इस अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा से रहस्यमय मिलन होता है और वह परमात्मा में लीन होकर उससे एकाकार हो जाती है। कोई भी व्यक्ति, आत्म-विकास की इन अवस्थाओं को अपने यत्नों द्वारा, प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए गुरु-परमेश्वर की कृपा अत्यन्त आवश्यक है।

परमात्मा स्वभाव से दयालु है और सदा अपनी कृपा की वर्षा करता रहता है। परन्तु मनुष्य का अहंकार परमात्मा की कृपा-वृष्टि की बूंदों को अपने ऊपर पड़ने नहीं देता। इसलिए ज़रूरी है कि हम अपने अहंकार को त्याग कर परमात्मा को अपने मन से सारी सृष्टि का सर्वेसर्वा मानें और सदा अटल, ईश्वरीय विधान के अनुसार अपना जीवन बितायें। मन में परमात्मा का निरंतर सुमिरन करते हुए अपनी सांसारिक जिम्मेदारियों को निबाहें। नाम-सुमिरन की सहज साधना एक आंतरिक प्रक्रिया है। इस साधना को करने के लिए न तो संसार से भागने की ज़रूरत है और न ही किसी प्रकार के दिखावे अथवा बाहरी आडम्बर की। गृहस्थ में रहकर भी इस साधना को बख़ूबी किया जा सकता है।

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

मंगलाचरण

ੴ [१]सति[२] नामु[३], करता[४], पुरखु[५], निरभउ[६], निरवैरु[७], अकाल[८], मूरति[९], अजूनी[१०], सैभं[११], गुरप्रसादि[१२]।।

[श्री जपुजी साहिब के प्रारम्भ में 'ੴ' से 'गुरप्रसादि' तक की गद्य-रचना 'मंगलाचरण' है। इसे मूल-मन्त्र भी कहा जाता है। इसमें श्री गुरु नानक देव जी ने अपने इष्ट (वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमात्मा) को अपना गुरु कह कर उसके स्वरूप का सूत्रात्मक वर्णन किया है। 'गुरप्रसादि' समस्तपद का प्रयोग करके उन्होंने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि आगे आने वाली रचना उस प्रभु की कृपा द्वारा ही की गयी है।[१३]]

उस गुरु (परमेश्वर) की कृपा द्वारा जो एक अद्वितीय ओअंकार (अर्थात् अव्यक्त तथा व्यक्त परमात्मा) है; जो 'सत्य' है और नाम है (अर्थात् जो पारमार्थिक सत्ता है तथा नाम-स्वरूप है, जो सदा एकरस रहता है और जिसकी कोई विशेष आकृति नहीं है); जो कर्त्ता पुरुष है (अर्थात् जो सारी सूक्ष्म एवं स्थूल, चर और अचर सृष्टि का रचयिता है और पुरुष अर्थात् सर्वव्यापक है), जिसे न तो किसी से भय है और न बैर। ऐसा वह गुरु परमेश्वर अकाल मूर्ति है (अर्थात् परमात्मा का स्वरूप अथवा अस्तित्व सर्वनाशक काल, समय अथवा मृत्यु के प्रभाव से स्वतन्त्र है; परमात्मा स्वयं काल का कर्त्ता है और काल का भी काल है)। वह अयोनि है (अर्थात् परमात्मा अण्ड, जरायु, पृथ्वी, स्वेद आदि किसी भी उत्पादक कारण से कभी भी जन्म नहीं लेता। वह अजन्मा है। आवागमन से स्वतन्त्र है। वह आम जीवों की तरह जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता। उसका कोई कर्त्ता नहीं है)। वह स्वयंभू है, अपने आप से है।[१४]

---

१. इस अनुपम प्रतीक का उच्चारण 'इक ओअंकार' या 'एक ओअंकार' है और इसका अर्थ है-'एक अव्यक्त एवं व्यक्त परमात्मा'। २. पारमार्थिक सत्ता। ३. नाम-स्वरूप। ४. रचयिता। ५. पुरुष, सर्वात्मा। ६. निर्भय, भयातीत। ७. बैर-रहित। ८. समय और मृत्यु के प्रभाव से स्वतन्त्र। ९. स्वरूप; 'अकाल मूरति' का अर्थ है सर्वनाशक काल के प्रभाव से स्वतन्त्र स्वरूप है जिसका। १०. अयोनिज, जन्म-मरण रहित। ११. स्वयम्भू, अपने आप प्रकट होनेवाला। १२. गुरु की कृपा द्वारा।

१३ हउ आपहु बोलि न जाणदा, मै कहिआ सभु हुकमाउ जीउ।।

सूही, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ७६३

१४. इस मंगलाचरण की तनिक विस्तृत व्याख्या के लिए देखिये परिशिष्ट-१

॥जपु॥

आदि[१] सचु[२], जुगादि सचु॥

है भी सचु, नानक, होसी[३] भी सचु॥ १॥

['जपु' इस वाणी का शीर्षक है। परन्तु सम्मान-प्रदर्शन के लिए श्रद्धालु-जन इस के साथ 'जी', 'साहिब' या ये दोनों आदरसूचक शब्द इकट्ठे लगाकर इसे 'जपुजी', 'जपु साहिब' और 'जपुजी साहिब' आदि नामों से पुकारते हैं। श्री गुरु ग्रंथ साहिब की विषय-सूची में इसका नाम 'जपु नीसाणु' है।

साधारणतया, परमात्मा के किसी विशेष नाम अथवा किसी मन्त्र या वाक्य के बारंबार किये जाने वाले उच्चारण को 'जप' कहते हैं। 'भक्ति' एवं 'राजयोग' आदि में जप का विशेष-स्थान है। इस प्रकार यह शीर्षक प्रकट करता है कि यह वाणी दर्शन-प्रधान होने के कारण बार-बार चिन्तन-मनन करने के लिए है।

'आदि सचु' से 'होसी भी सचु' तक की काव्य-रचना 'आदि-श्लोक' है। इसमें श्री गुरु नानक देव जी ने अपने इष्ट वाहिगुरु अथवा परमात्मा को 'सचु' अर्थात् सत्य कह कर उसके सत्य स्वरूप का प्रतिपादन किया है। यहाँ यह बताया गया है कि सृष्टि का सारा प्रपंच अनित्य, अस्थिर, परिवर्तनशील एवं नश्वर है। केवल परमात्मा ही सत्य है; केवल परमात्मा का अस्तित्व ही सदा विद्यमान रहता है।]

(इस श्लोक में श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए कहते हैं—) हे नानक! आदि या प्रारम्भ में (अर्थात्, जब सृष्टि की रचना नहीं हुई थी, उस समय भी) सत्य अर्थात् परब्रह्म परमात्मा (विद्यमान) था; (सृष्टि की रचना हो जाने के बाद) जब (समय-विभाजन का बोध करानेवाले) युगों (का आरम्भ हुआ तो उन युगों) के शुरू में भी परमात्मा विद्यमान था। अब (इस समय, अर्थात् वर्तमान काल में) भी परमात्मा विद्यमान है और आनेवाले समय में (बल्कि संसार का अन्त हो जाने पर) भी परमात्मा विद्यमान रहेगा। (इसका भाव यह है कि परमात्मा, जिसकी सत्ता को मंगलाचरण में स्वत:सिद्ध मान कर 'सति और नामु' स्वरूप बताया गया है, सांसारिक सत्ताओं की तरह परिवर्तनशील या विकारी न होकर एकरस रहने वाली शाश्वत सत्ता है)॥ १ ॥

[कई सज्जन 'ੴ' से 'होसी भी सचु' तक की सारी रचना को 'मंगलाचरण' और कई यहाँ तक जपुजी का प्रथम पद्य, पद या पहली पउड़ी मानते हैं। परन्तु ये दोनों ही धारणाएँ निर्मूल प्रतीत होती हैं। पहली बात तो यह है कि 'जपु' शब्द के पहले और

---

१. जगत् की उत्पत्ति से पहले की अवस्था में। २. सत्य, परब्रह्म परमात्मा। ३. होगा।

बाद में लगे हुए पूर्ण-विराम के चिह्न 'मंगलाचरण', 'जपु' (शीर्षक) और 'आदि-श्लोक' इन तीनों को अलग-अलग सिद्ध करते हैं। फिर, यह मंगलाचरण अपने पूरे तथा तीन अन्य संक्षिप्त रूपों में, सारे श्री गुरु ग्रन्थ, साहिब में ५६७ बार 'गुरप्रसादि' तक ही आया है; कहीं भी 'होसी भी सचु' तक नहीं आया।

'आदि-श्लोक' के अन्त में लिखे हुए '१' अंक की गिनती आगे आने वाली पउड़ियों में नहीं की गयी है। इसलिए इसे 'जपुजी' की पहली पउड़ी भी नहीं माना जा सकता। वास्तव में, 'जपु' वाणी 'सोचै सोचि न होवई' से प्रारम्भ होती है और यही उसका पहली पउड़ी है।

पउड़ी, पौड़ी अथवा पैड़ी का साधारण अर्थ है— किसी ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए पैर रखने को एक के ऊपर एक बना स्थान अर्थात् सीढ़ी या सीढ़ी का डण्डा।

काव्य-शास्त्र में पउड़ी एक छन्द अथवा कविता के एक प्रकार के लघु रूप का नाम है। यह डिंगल के निसांणी— संस्कृत में, नि:श्रेणी या नि:श्रयणी— का समानार्थक है। कई प्रकार के छन्दों का प्रयोग किये जाने के कारण इसके कई रूप हैं। इस के प्रयोग द्वारा किसी विचार को, सीढ़ी के डण्डों की तरह, क्रमश: अथवा धीरे-धीरे आगे बढ़ाया जाता है। गाते समय पउड़ी की पंक्तियों का 'स्थायी' और 'अन्तरा' के रूप में विभाजन नहीं किया जाता। पउड़ी का गायन एक विशेष ढंग से किया जाता है और पउड़ी को गा लेने के बाद उसका पाठ भी सुनाया जाता है। इस प्रकार पउड़ी का उच्चारण दो बार किया जाता है ताकि श्रोतागण उसके अर्थ को भली भाँति समझ सकें।

पंजाबी भाषा के प्रसिद्ध काव्य-रूप ''वार'' की रचना इसी छन्द में की जाती है। भाई कान्ह सिंघ नाभा के अनुसार, ''वार शब्द का अर्थ पौड़ी (नि:श्रेणी) छन्द भी हो गया है क्योंकि योद्धाओं की शूरवीरता का यश पंजाबी कवियों ने अधिकतर इसी छन्द में लिखा है।[१]''

श्री जपुजी साहिब की रचना भी पउड़ियों में की गयी है। इसलिए इसके प्रत्येक पद को भी पउड़ी कहा जाता है।]

---

१. *महान कोश*, तीसरा संस्करण (पटियाला, भाषा विभाग, पंजाब, १९७४) पृष्ठ १०९१

सोचै[१], सोचि[२] न होवई, जे सोची[३], लख वार।।
चुपै[४], चुप न होवई, जे लाइ रहा, लिव तार[५]।।
भुखिआ[६], भुख न उतरी, जे बंना, पुरीआ भार[७]।।

['मंगलाचरण' और 'आदि-श्लोक' में परमात्मा का स्वरूप दर्शाकर श्री गुरु जी अब उस गम्भीर समस्या को उठाते हैं जो विचारशील मानव को न जाने कब से एक अबूझ पहेली बनकर उलझाये हुए है। वह समस्या है—सृष्टि के रहस्यों को समझने और सृष्टि के कर्त्ता का साक्षात्कार करने की।]

(श्री गुरु जी फ़रमाते हैं कि) यदि हम लाखों बार सोचते (मात्र दार्शनिक चिन्तन करते) रहें तो भी परम रहस्यमय प्रभु परमात्मा हमारी सोच, समझ अथवा बुद्धि के घेरे में नहीं आ सकता। (अर्थात् परमात्मा मनुष्य के चिन्तन की पहुँच से परे है। मनुष्य की सीमित बुद्धि असीम परमात्मा का अन्त नहीं पा सकती।

मनुष्य के पास बुद्धि एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण वह सभी प्राणियों में उत्तम माना जाता है। इसलिए कुछ लोग बुद्धि को सर्वोपरि समझते हैं। उनका मानना है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वही बातें मानी जानी चाहिए जो बुद्धि की कसौटी पर ठीक सिद्ध हो सकें। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य की बुद्धि भौतिक जगत् के साथ बन्धी हुई है। अतः जो बातें भौतिक जगत् से परे की हैं उनको बुद्धि के दायरे में बन्द करना मनुष्य के बूते से बाहर की बात है।)

चुप्पी साध लेने से मानसिक शान्ति (मन के संकल्प-विकल्पों से आज़ादी) प्राप्त नहीं हो सकती चाहे मैं निरन्तर मौन-समाधि लगाये रहूँ। (मुँह, कान, आँख आदि बंद करके बैठ जाने से मन शांत नहीं हो सकता। वह तो अपने चंचल स्वभाव के कारण सदैव संकल्प-विकल्पों में ही उलझा रहता है।)

तृष्णा के अधीन रहकर यदि मैं सभी भुवनों के पदार्थ एकत्र कर लूँ तो भी भूखे रहने (अर्थात् और-और प्राप्त करने की इच्छा रखने) से मन की लालसा समाप्त नहीं हो सकती। (ईंधन डालते जाने से आग बुझती नहीं, अपितु पहले से भी और अधिक भड़क उठती है। सांसारिक पदार्थों को ही सब कुछ मान कर उनके पीछे दौड़नेवाला और धन-सम्पत्ति के भोग में ही मस्त रहनेवाला व्यक्ति आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को भी भूल जाता है। वह दृष्य जगत् रूपी प्रपंच में खोया रहता है। इसलिए

१. सोचते रहने से। २. समझ में। ३. सोचूँ। ४. चुप्पी साध लेने से। ५. अखण्ड समाधि। ६. भूखे, अर्थात् तृष्णालु, रहने से। ७. सारी सृष्टि के पदार्थ।

सहस[१] सिआणपा[२] लख होहि, त, इक न चलै नालि।।
किव[३] सचिआरा[४] होईऐ, किव कूड़ै[५] तुटै पालि[६]।।
हुकमि[७] रजाई[८] चलणा, नानक, लिखिआ नालि[९]।।१।।

वह यह सोच भी नहीं सकता कि पदार्थवाद और भोगवाद आदि अध्यात्मवाद के बिलकुल विपरीत हैं। सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति आध्यात्मिक प्राप्ति नहीं है। अत: पदार्थवादी व्यक्ति की न तो पदार्थों को प्राप्त करने की भूख ही मिटती है और न ही उसे परम तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है।)

चाहे किसी व्यक्ति को हजारों, लाखों चतुराइयाँ आती हों तो उनमें से एक भी उसका साथ नहीं देती। (अर्थात् चतुराइयाँ आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति अथवा प्रभु-मिलन की राह में सहायक नहीं होतीं। आत्मा के विकास के लिए दक्षता या चालाकी की नहीं, आत्म-समर्पण की आवश्यकता होती है। परमात्मा सर्वज्ञ है और उस के आगे किसी की कोई चतुराई या चालाकी सफल नहीं हो सकती। परमात्मा को ठगना किसी तरह भी संभव नहीं है।)

(अब प्रश्न उठता है कि यदि प्रभु को प्राप्त करने के लिए दार्शनिक-चिन्तन, मौन-साधना और पदार्थों की प्राप्ति करना आदि साधन व्यर्थ हैं तो फिर) जीव और परमात्मा के बीच जो असत्य (अहङ्कार अथवा माया-रूपी भ्रम) की दीवार खड़ी हुई है वह कैसे टूटे? कैसे दूर हो? किस विधि से जीव द्वारा सचिआरा (अर्थात् सत्य-आकार वाला अथवा सत्यरूप हरि से एकाकार) हुआ जा सकता है? (इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं-)

हे नानक! जो प्रभु-परमात्मा ने (संसार की रचना करते समय, और जीव को जन्म देते समय) साथ ही अंकित कर दिया है, उस हुक्म अथवा अनुशासन में, परमात्मा की इच्छा के अनुसार, चलना चाहिए (क्योंकि यही एक ऐसी युक्ति है जिससे जीव परमात्मा से एकाकार हो सकता है)।।१।।

---

१. सहस्र, हज़ारों। २. चतुराइयाँ। ३. किस तरह। ४. सत्य-आकार अथवा सत्य-स्वरूप वाला। ५. झूठ की। ६. परदा, दीवार। ७. दैवी विधान के अनुसार। ८. ईश्वर की इच्छा के अनुसार। ९. साथ ही।

हुकमी[१] होवनि आकार, हुकमु न कहिआ जाई।।
हुकमी होवनि जीअ[२], हुकमि मिलै वडिआई[३]।।
हुकमी उतमु नीचु, हुकमि लिखि[४], दुख सुख पाईअहि[५]।।
इकना[६] हुकमी बखसीस, इकि हुकमी, सदा भवाईअहि[७]।।
हुकमै अंदरि सभु को, बाहरि हुकम न कोइ।।

[पिछली पउड़ी में प्रभु-मिलन के लिए ईश्वरीय हुक्म, अनुशासन या विधान में रहने अथवा जीवन बिताने की युक्ति अपनाने की शिक्षा दी गयी है। परन्तु प्रश्न उठता है कि वह हुक्म क्या है? वह विधान कैसा है? श्री गुरु जी अब इस का सांकेतिक वर्णन करते हुए फ़रमाते हैं कि]

परमात्मा के हुक्म अथवा विधान का कथन नहीं किया जा सकता। (अर्थात् परमात्मा का हुक्म अथवा दैवी विधान अवर्णनीय है। परन्तु संकेत रूप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि) सृष्टि में जो भी आकार (अर्थात् सूक्ष्म या स्थूल आकार वाले पदार्थ और जीव आदि) हैं वे सब उस हुक्म अथवा विधान के अधीन ही बनते हैं।

ईश्वरीय विधान के अनुसार ही जीव उत्पन्न होते हैं और उन्हें (सृष्टि एवं आत्मा के विकास-क्रम में एवं प्रभु निकट होने की) बड़ाई या महत्ता भी उसी विधान के अधीन प्राप्त होती है।

दैवी विधान के अनुसार ही कोई उत्तम या नीच आचरण वाला बनता है। (जीवों द्वारा किए हुए कर्मों के परिणाम-स्वरूप निश्चित किये हुए या भाग्य में) लिखे हुए दुःख और सुख भी इसी विधान के अधीन पाये अथवा भोगे जाते हैं।

परमात्मा के विधान के अधीन ही कई जीवों को परमात्मा की बख़्शिश प्राप्त होती है (अर्थात् कई जीव दैवी कृपा के पात्र बनते हैं) और उसी दैवी विधान के अधीन कई जीव सदा आवागमन के चक्कर में फिराये जाते हैं। (अर्थात् जीवों का जन्म-मरण तथा मुक्ति भी ईश्वरीय नियम या विधान के अधीन है।)

(इस प्रकार) सब कुछ (अथवा सारा संसार ही) परमात्मा के विधान (के घेरे) में है। उसके हुक्म अथवा विधान के बाहर कोई या कुछ भी नहीं है।

---

१. ईश्वरीय नियम या विधान के अधीन । २. जीव-जन्तु। ३. बड़ाई, महत्ता। ४. लिखे के अनुसार, निश्चित। ५. पाये जाते हैं। ६. कई जीवों को । ७. फिराये जाते हैं।

नानक, हुकमै जे बुझै, त[1], हउमै[2] कहै न कोइ ।। २ ।।

(इस पउड़ी के अन्त में, श्री गुरु जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! यदि कोई उस ईश्वरीय हुक्म या विधान को बूझ, समझ ले (अर्थात् यह समझ ले कि सब कुछ उस विधान के अधीन ही हो रहा है) तो फिर वह अहङ्कार नहीं करेगा। (अर्थात् ऐसा व्यक्ति, अपने समेत, सब कुछ परमात्मा के विधान में बन्धा हुआ अनुभव करता है। वह भूल जाता है कि मैं कुछ हूँ अथवा मैं कुछ करता हूँ या कर सकता हूँ। 'मैं', 'मेरा' का एहसास उसके मन से निकल जाता है। वह अपनी स्वतंत्र सत्ता को भूलकर परमात्मा की रज़ा में राज़ी रहता है— दैवी विधान में एक कठपुतली की तरह अपना जीवन बिताता है। वह सब काम परमात्मा के भय में रहकर, परमात्मा के आदेश या इशारे के अनुसार करता है)।।२।।

[जपुजी साहिब की पहली पउड़ी में प्रभु परमात्मा के हुक्म अथवा विधान के अनुसार चलने का उपदेश दिया गया है। इस दूसरी पउड़ी में उस हुक्म द्वारा होने वाली क्रियाओं का विवरण देते हुए बताया गया है कि परम पिता परमात्मा का हुक्म बयान नहीं किया जा सकता। परन्तु हाँ, इस विषय में इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सृष्टि में जो कुछ भी है या जो कुछ भी हो रहा है, वह सब कुछ उसी हुक्म अथवा दैवी विधान के अधीन है; उसके नियन्त्रण में है।

सृष्टि का सारा कार्य-व्यापार उस, सर्वथा स्वतन्त्र एवं निरंकुश, कर्त्ता पुरुष वाहिगुरु के विधान के अधीन है। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह अपनी शक्ति से कुछ कर सकता है तो उसका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि वास्तव में, किसी व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य या शक्ति तो कोई है ही नहीं। हरेक को परमात्मा ने बनाया है और जिसे कोई व्यक्ति अपनी शक्ति, मिल्कीयत आदि समझता है वह सब कुछ परमात्मा का ही दिया हुआ है। इसलिए जो भी व्यक्ति परमात्मा और उसके हुक्म की प्रधानता को जान जाता है और उसे अपने मन से स्वीकार कर लेता है, उस व्यक्ति की पहचान यह है कि वह कभी अहंकार नहीं करता।[3]]

---

१. तो, उस स्थिति में। २. अहंकार, घमण्ड।

३. जो किछु वरतै सभ तेरा भाणा।।
हुकमु बूझै सो सचि समाणा।। गउड़ी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १९३

गावै को[१] ताणु[२], होवै किसै ताणु॥
गावै को, दाति[३] जाणै नीसाणु[४]॥
गावै को, गुण वडिआईआ चार[५]॥
गावै को, विदिआ[६] विखमु[७] वीचारु॥
गावै को, साजि[८] करे तनु खेह[९]॥
गावै को, जीअ[१०] लै फिरि देह॥

[पिछली पउड़ी में बताया गया है कि परब्रह्म परमात्मा और परमात्मा का आदेश अथवा विधान बयान नहीं किया जा सकता। परन्तु, देखने में आता है कि फिर भी बहुत-से लोग इस विषय में अपने-अपने अनुभव, अपनी-अपनी समझ तथा क्षमता के अनुसार अपने-अपने विचार प्रकट करते रहते हैं। इस विषय में लोगों द्वारा प्रकट किये जाने वाले विचारों की ओर ध्यान दिलाते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं-]

जिस किसी को बल अथवा शक्ति प्राप्त है, वह परमात्मा के बल का गायन करता है (अर्थात् ऐसा व्यक्ति यह कह कर परमात्मा की स्तुति करता है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है)।

कोई परमात्मा के दिये हुए पदार्थों को उसकी दानशीलता के प्रतीक जान कर उसका गुणगान करता है। (अर्थात् कुछ लोग यह कह कर परमात्मा की स्तुति करते हैं कि वह दातार है, विश्व का प्रतिपालक है। संसार की उत्पत्ति के समय से ही जीव अपूर्ण एवं अभावग्रस्त रहा है अतः अधिकतर लोग सकाम भक्ति करते हैं। उन्हें जो कुछ भी प्राप्त होता है वे उसे आधार बनाकर परमात्मा के विषय में अपनी धारणाएँ बना लेते हैं।)

कोई परमात्मा के सुन्दर गुणों और बड़ाइयों का बखान करता है। कोई उसका वर्णन विषम विचार वाली (गूढ़ एवं अति कठिन अथवा जल्दी समझ में न आने वाली दार्शनिक) विद्या द्वारा करता है।

कोई (पुनर्जन्म में विश्वास न करने वाला व्यक्ति) यह कहकर परमात्मा की स्तुति करता है कि वह शरीर की रचना करके उसे राख कर देता है।

कोई (पुनर्जन्म में विश्वास करने वाला) कहता है कि परमात्मा जीवात्मा को एक शरीर से निकाल कर किसी दूसरे शरीर में प्रविष्ट कर देता है (और इस प्रकार

१. कोई मनुष्य। २. बल, शक्ति। ३. ईश्वर-प्रदत्त पदार्थ। ४. निशान, प्रतीक। ५. चारु, सुन्दर। ६. विद्या द्वारा। ७. विषम, कठिन, दुर्बोध। ८. रचना करके, बनाकर। ९. राख, मिट्टी। १०. जीवात्मा।

गावै को, जापै[१] दिसै दूरि।।

गावै को, वेखै हादरा हदूरि[२]।।

कथना कथी, न आवै तोटि[३]।।

कथि कथि कथी, कोटी कोटि कोटि।।

देदा[४] दे, लैदे थकि पाहि।।

जुगा जुगंतरि, खाही खाहि[५]।।

हुकमी[६] हुकमु, चलाए राहु[७]।।

जीव अपने किए हुए कर्मों के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेते रहते हैं)।

कोई कहता है कि परमात्मा बहुत दूर भासित होता है, (तो) कोई कहता है कि (परमात्मा हम से कहीं दूर नहीं है वह तो) हाज़िरोनाज़िर है। (अर्थात् वह सब जगह मौजूद है और सब कुछ प्रत्यक्ष देख रहा है।)

इस प्रकार (लोगों द्वारा परमात्मा के बारे में) कहे हुए कथनों की कोई कमी नहीं है (अर्थात् ऐसे कथनों का कोई अन्त ही नहीं है क्योंकि किसी एक व्यक्ति ने नहीं बल्कि) करोड़ों ही कथक्कड़ों ने (परमात्मा के विषय में ऐसी कथा) करोड़ों बार कह कहकर फिर (अर्थात् बारंबार) कही है। (परन्तु किसी व्यक्ति में भी इतनी शक्ति नहीं है कि वह प्रभु के सभी गुणों का वर्णन कर सके। ज़रा परमात्मा के केवल एक दानशीलता के गुण अथवा उसकी दान देने की सामर्थ्य को ही देखिये।)

देनेवाला (अर्थात् दातार प्रभु) तो सब को निरन्तर देता ही रहता है (परन्तु) लेने वाले (जीव आदि) ले लेकर थक जाते हैं (मर जाते हैं। वे विभिन्न शरीरों को छोड़ छोड़कर, आवागमन के चक्र में घूमते हुए अनेक) युग-युगान्तरों तक खाते ही रहते हैं (अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों का उपयोग करते चले जाते हैं)।

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आप को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (उस सर्वशासक प्रभु-परमात्मा का) विधान अथवा नियम सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य-व्यापार को चला रहा है। वह बेपरवाह (निश्चिन्त, बेफ़िक्र मालिक)

१. लगता है, भासित होता है। २. हाज़िरोनाज़िर, मौजूद और देखनेवाला। ३. कमी, अभाव। ४. देनेवाला, दातार, परमात्मा।५. खाते ही रहते हैं।६. हाकिम या शासक का।७. सिलसिला, व्यवस्था।

नानक, विगसै[१] वेपरवाहु[२]।। ३।।

स्वयं यह सब कुछ देखकर सदा प्रसन्न रहता है। (इस का भाव यह है कि परमात्मा पर सृष्टि को चलाने का कोई बोझ नहीं पड़ता। इस काम के लिए परमात्मा को कोई फ़िक्र या चिन्ता नहीं करनी पड़ती क्योंकि सृष्टि की सारी व्यवस्था उसके अटल हुक्म अथवा विधान में बंधी हुई चलती रहती है)।।३।।

[इस पउड़ी में मानव-बुद्धि की सीमितता का अतीव सुन्दर वर्णन किया गया है। पहली आठ पंक्तियों में नमूने के तौर पर थोड़े-से उन ढंगों को दर्शाया गया है जिनके द्वारा लोग परमात्मा की अपार शक्ति के विभिन्न पहलुओं को लेकर उसका गुणगान करते हैं। फिर यह बताया गया है कि लोगों द्वारा परमात्मा के बारे में कहे गये इस प्रकार के कथनों का कोई अन्त नहीं है। अनगिनत लोगों द्वारा अनगिनत बार इस प्रकार के कथन कहे गये हैं। असंख्य लोग अब भी परमात्मा के बारे में ऐसे कथन कह रहे हैं और असंख्य ही लोग भविष्य में भी इस तरह के कथन कहते रहेंगे। परन्तु सच्चाई यह है कि जो भी कोई परमात्मा के विषय में कुछ कथन करता है वह उसकी शक्ति के केवल एक-आध पहलू को थोड़ा-सा ही छू पाता है। सीमित बुद्धि तथा भिन्न-भिन्न रुचियों वाले मनुष्यों के अनुभवों तथा वर्णनों का एक दूसरे से भिन्न होना स्वाभाविक है। इसीलिए एक व्यक्ति कुछ कहता है और दूसरा कुछ और ही। इस तरह कई बार वे अपनी-अपनी जगह ठीक होने पर भी वाद-विवाद में फँस जाते हैं। परन्तु आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिए किसी प्रकार के वाद-विवाद में पड़ने की बजाय अन्तर्मुख होकर 'नाम-साधना' का पल्ला पकड़े रहना ही अपेक्षित और परम आवश्यक है।]

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

---

१. प्रफुल्लित या प्रसन्न होता है। २. निश्चिन्त, बेफ़िक्र।

साचा[१] साहिबु[२], साचु नाइ[३], भाखिआ[४] भाउ[५] अपारु[६]॥
आखहि[७] मंगहि[८], देहि, देहि, दाति करे दातारु॥
फेरि, कि अगै रखीऐ, जितु दिसै दरबारु॥

[पिछली पउड़ी में भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा परमात्मा के बारे में किये जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के कथनों में से कुछ का बानगी-मात्र वर्णन किया गया है। अब इस पउड़ी में श्री गुरु जी एक ऐसा ढंग बताते हैं जिसको अपना लेने से संसार अथवा माया के भ्रमजाल से नजात मिल सकती है; परम पिता, परमात्मा की हुजूरी या समीपता प्राप्त हो सकती है; परमात्मा के दरबार में प्रवेश प्राप्त हो सकता है अथवा परमात्मा से साक्षात्कार सम्भव हो सकता है।]

वह साहिब (मालिक अथवा परमात्मा) सच्चा (सदा स्थिर, अथवा कायम रहनेवाला) है। (सृष्टि की व्यवस्था को चलानेवाला) उसका नियम या विधान भी अचल है। अपार प्रेम उसकी भाषा है (अर्थात् प्रेम में भीगकर, किसी भी भाषा में, परमात्मा से कही हुई बात उस तक पहुँच जाती है। अतएव प्रेम ही परमात्मा से सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम या साधन है। इस का भाव यह भी है कि किसी भाषा-विशेष से परमात्मा का कोई ख़ास लगाव नहीं हैं। उसके लिए सभी भाषाएँ बराबर हैं; वह सभी भाषाएँ पूरी तरह समझता है)।

(हमें अमुक वस्तु) 'दो' (हमें अमुक वस्तु) 'दो' कहते हुए जीव (अपनी-अपनी भाषाओं में) याचना करते हैं और दातार प्रभु (जीवों की भिन्न-भिन्न भाषाओं में की गयी विभिन्न प्रकार की याचनाओं को पूरी तरह समझकर) सब जीवों को अनेक प्रकार के दान देता है (अर्थात् उस रज़्ज़ाक या दुनियाँ का भरण-पोषण करनेवाले, परमात्मा से सभी रिज़्क या जीविका माँगते हैं और वह सब का भरण-पोषण करता है। इसका भाव यह है कि केवल कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु ही सब का दाता है)।

(अब प्रश्न उठता है कि जब सब कुछ उसी परमात्मा का दिया हुआ है, परमात्मा का ही है, तो फिर) उसके सामने उपहार अथवा भेंट के रूप में कौन-सी वस्तु रखें जिससे प्रभु का दरबार दिखाई दे जाये?

---

१. सदा अटल, अचल या अपरिवर्तनशील रहने वाला। २. मालिक, परमात्मा। ३. नियम, विधान। ४. भाषा। ५. प्रेम। ६. अपार, बेहद। ७. कहते हैं। ८. मांगते हैं।

मुहौ[१] , कि बोलणु[२] बोलीऐ , जितु सुणि[३] धरे पिआरु॥
अंम्रित वेला[४], सचु नाउ, वडिआई वीचारु॥
करमी[५] आवै कपड़ा[६], नदरी[७] मोखु दुआरु॥
नानक, एवै[८] जाणीऐ, सभु आपे[९] सचिआरु[१०]॥ ४॥

(और) मुँह से क्या वचन बोलें अथवा क्या कहें जिसे सुन कर वह प्रभु हमसे प्यार करने लगे?

(उपरोक्त दोनों जिज्ञासाओं के उत्तर में श्री गुरु जी आप ही युक्ति बताते हुए फ़रमाते हैं कि) अमृत वेला[११] में, अर्थात् भोर के समय, हरि-नाम का स्मरण और हरि प्रभु की बड़ाइयों का विचार या चिन्तन किया जाना चाहिए। (यही वह सरल एवं श्रेष्ठ साधन है जिसको अपना लेने से परमात्मा को पाया जा सकता है और उसके दरबार का दर्शन किया जा सकता है।

मानव जन्म ही ऐसा अवसर है जब परमात्मा की आराधना-उपासना, सुमिरन आदि सम्भव हैं। इसी अवसर के दौरान संसार अथवा आवागमन के चक्कर से छुटकारा मिल सकता है। परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म-काण्ड आदि में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि)

शुभ-अशुभ कर्म करने से (उत्तम या नीच योनियों में जन्म लेने के लिए केवल) शरीर रूपी कपड़ा ही प्राप्त होता है। (परन्तु) प्रभु की कृपा-दृष्टि का पात्र बनने से इस जगत के जंजाल से छुटकारा मिल जाता है और परमात्मा का दर, अथवा दरबार और मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आप को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! इस प्रकार (नाम-साधना करने से) पता चल जाता है कि सत्य-स्वरूप परमात्मा आप ही सब कुछ है। (अर्थात् परमात्मा आप ही संसार का सर्वेसर्वा है, प्रधान कर्ताधर्ता है। उस जितना सामर्थ्यवान् और कोई भी नहीं है। सारी सृष्टि उसी का अपना प्रसार है। वह सब जगह मौजूद है) ॥४॥

१. मुँह से। २. वचन, शब्द। ३. जिसे सुनकर। ४. रात के पिछले या अंतिम पहर का समय जिसे ब्राह्म-मुहूर्त भी कहा जाता है। ५. कर्मों द्वारा। ६. शरीर। ७. प्रभु की कृपा-दृष्टि द्वारा। ८. इस प्रकार। ९. आप ही। १०. सत्य-स्वरूप परमात्मा।

११. 'अमृत-वेला' की थोड़ी विस्तृत व्याख्या के लिए देखिये परिशिष्ट-२

थापिआ[१] न जाइ, कीता न होइ[२]।।
आपे आपि[३], निरंजनु[४] सोइ[५]।।
जिनि सेविआ[६], तिनि पाइआ मानु।।

[पिछली पउड़ी में परमात्मा की आराधना करने का सहज, सरल ढंग बताते हुए अमृत वेला में परमात्मा के नाम का जाप, अर्थात् परमात्मा का सुमिरन, करने और उसकी बड़ाइयों का चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है।

श्री गुरु नानक देव जी के समय अधिकतर लोग अनेक देवी-देवताओं आदि को परमेश्वर मानकर, और भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ बनाकर, उनकी पूजा अर्चना किया करते थे। इस बहुदेववाद के चलते वे सृष्टि के वास्तविक कर्त्ता, भर्ता और संहर्ता, एक अद्वितीय परब्रह्म, परमात्मा को लगभग भूल चुके थे। इस पउड़ी में श्री गुरु महाराज इस विषय पर गुरुमत के अनुसार उपदेश देते हुए फ़रमाते हैं—]

वह (वाहिगुरु, परमात्मा मूर्तियों की तरह) किसी विशेष स्थान पर स्थापित या कायम नहीं किया जा सकता और न ही किसी द्वारा बनाये जाने पर बन ही सकता है। (अर्थात् किसी द्वारा स्थापित किये जाने पर अथवा इस विशेष पद पर नियुक्त किये जाने के कारण परमात्मा नहीं बना है। इसका भाव यह है कि परमात्मा की रचना नहीं की जा सकती और न ही उसे बनाकर किसी विशेष स्थान पर टिकाया जा सकता है।

परमात्मा की कोई विशेष आकृति न होने के कारण उसकी असली मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। फिर, हरेक मूर्ति का कोई न कोई बनाने वाला अवश्य होता है और हरेक मूर्ति, काल के अधीन होने के कारण, नश्वर है। परन्तु सब का कर्ता, प्रभु-परमेश्वर अथवा वाहिगुरु तो स्वयं काल का भी काल है। ऐसे प्रभु का कर्त्ता या बनानेवाला कोई नहीं हो सकता)।

वह निरंजन (अर्थात् माया के मल से रहित, परमात्मा) अपने आप से ही है (अर्थात् उसका अस्तित्व किसी कारण पर निर्भर नहीं करता; वह स्वयंभू है)।

जिस किसी ने भी परमात्मा की सेवा की (अर्थात् परमात्मा का सुमिरन किया) उसने (आत्म-विकास द्वारा हरि-मिलन की वास्तविक) बड़ाई प्राप्त कर ली। (अर्थात् परमात्मा की सेवा, पूजा आदि करने के लिए किसी व्यक्ति विशेष की सहायता की आवश्यकता नहीं। हरेक व्यक्ति गुरु-उपदेश के अनुसार नाम-सुमिरन कर सकता है।

१. स्थापित किया। २. किसी के बनाने से नहीं बनता। ३. अपने आपसे; स्वयंभू। ४. अंजन या माया-मल से रहित; परमात्मा। ५. वह। ६. सुमिरन किया।

नानक, गावीऐ, गुणीनिधानु[१]।।
गावीऐ, सुणीऐ, मनि रखीऐ भाउ[२]।।
दुखु परहरि[३], सुखु घरि[४] लै जाइ[५]।।
गुरमुखि नादं[६], गुरमुखि वेदं[७], गुरमुखि रहिआ समाई।।

स्पष्ट है कि सब बड़ाईयाँ परमात्मा के नाम में ही हैं।[८] इसलिए) हे नानक! (हमें चाहिए कि) हम उस गुण-निधि, अथवा गुणों के ख़ज़ाने, परमात्मा का गुण-गान करें।

न केवल उस प्रभु का गुणगान अथवा स्तुति की जानी चाहिए बल्कि ध्यान लगा कर उसके गुणों को सुना जाना चाहिए और मन में उसके प्रति अटूट प्रेम एवं श्रद्धा-भक्ति धारण करनी चाहिए। (इस का भाव यह है कि परमात्मा का गुणगान करते समय जो कुछ उच्चारण किया जा रहा हो अथवा कहा जा रहा हो उसे एकाग्रचित्त होकर सुनना और उसके अर्थ-भाव को प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक अपने मन में बसाना परम आवश्यक है। एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देने या दोनों कानों से सुन कर मुँह से निकाल देने मात्र से कोई विशेष लाभ नहीं होता।)

(जो साधक इस युक्ति को अपनाता है वह, अहंकार एवं संसार रूपी मायाजाल में फँसे होने के कारण, परमात्मा से होनेवाले वियोग के) दु:ख का परित्याग करके अपने हृदय रूपी घर में (प्रभु-प्रेम एवं प्रभु-मिलन का) सुख प्राप्त कर लेता है।

गुरु के मुख (अर्थात् गुरु द्वारा दिये गये उपदेश अथवा गुरु की वाणी) में ही नाद है, गुरुवाणी में ही वेद अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार है, गुरुवाणी में स्वयं परमात्मा समाया हुआ है या व्याप्त है।[९] (अर्थात् गुरु-परायण साधक को, गुरुवाणी अथवा गुरु द्वारा दिये गये उपदेश के अनुसार जीवन बिताने वाले व्यक्ति को, अपने अन्दर नाद सुनाई देने लग जाता है; इसके लिए उसे कोई कठिन योग-साधना करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसे व्यक्ति को वेद आदि धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने की ज़रूरत भी नहीं पड़ती क्योंकि गुरुवाणी के अनुसार जीवन बिताने से सहज ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अत: हमारे लिए) गुरु ही (नाद का स्वामी माना जानेवाला देवता)

१. गुण-निधि। २. प्रेम, भक्ति। ३. त्याग कर। ४. अन्त:करण में। ५. ले जाता है। ६. अन्तरात्मा में निरन्तर होती रहने वाली एक प्रकार की सूक्ष्म ध्वनि। योगी लोग इसे सृष्टि की उत्पत्ति का कारण मानते हैं और इसे सुनने के लिए तपस्या करते हैं। ऐसा माना जाता है कि इसे सुनते रहने से साधक का चित्त नाद रूपी ब्रह्म में लीन हो जाता है। ७. वेद, आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार।

८. सभ वडिआईआ हरिनाम विचि, हरि गुरमुखि धिआईऐ।।
वार बिलावलु, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ सहिब, पृष्ठ ८५०

९. सभि नाद बेद गुरबाणी ।। मनु राता सारिगपाणी।। रामकली, महला १, वही, पृष्ठ ८७९

गुरु ईसरु[१], गुरु गोरखु[२] बरमा, गुरु पारबती माई[३]।।
जे हउ[४] जाणा, आखा नाही, कहणा कथनु न जाई[५]।।
गुरा[६], इक देहि बुझाई।।
सभना जीआ[७] का इकु दाता, सो मै विसरि न जाई[८]।। ५।।

शिव है; गुरु ही (सृष्टि का पालन-कर्ता माना जानेवाला देवता) विष्णु है, गुरु ही (सृष्टि का रचयिता माना जानेवाला देवता) ब्रह्मा है और गुरु ही (हिमालय की पुत्री तथा शिव की पत्नी)पार्वती माई है (जो स्वयं आदि पराशक्ति की अवतार मानी जाती है और सब देवियाँ जिसकी अवतार मानी जाती हैं। इसका भाव यह है कि हमारे लिए गुरु ही सब कुछ है; गुरु परमेश्वर के अलावा और कोई भी देवी या देवता आदि हमारा इष्ट नहीं है[९])।

(श्री गुरु नानक देव जी फ़रमाते हैं कि) यदि मैं (ऐसे सर्वव्यापक सद्‌गुरु, परब्रह्म परमात्मा को) जान लूँ तो (भी उसको जान लेने के अनुभव के बारे में कुछ) कहूँगा नहीं क्योंकि (गूँगे के गुड़ की तरह) उस (अनुभव) का कथन नहीं किया जा सकता। (परमात्मा के सान्निध्य, परमात्मा की सन्निकटता का अनुभव तो किया जा सकता है परन्तु इस अनुभव को बयान नहीं किया जा सकता क्योंकि मनुष्य की भाषा सूक्ष्म मनोभावों तथा आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन करने में असमर्थ है। अत: परमात्मा को सदा याद रखना और उसकी उपस्थिति को सर्वत्र अनुभव करना ही अपेक्षित है।)

(सुरति, ध्यान अथवा चेतना सदैव हरि-चरणों में जुड़ी रहे इसके लिए प्रार्थना करते हुए श्री गुरु नानक देव जी पउड़ी के अन्त में फ़रमाते हैं—) हे सद्‌गुरु जी! (आपसे प्रार्थना है कि) मुझे ऐसा बोध करा दीजिये, मुझे एक ऐसी समझ-बूझ प्रदान कीजिये कि (जिसके फलस्वरूप) जो सब जीवों का एक, अद्वितीय दाता है वह (परमात्मा) मुझे कभी भूल न जाये (अर्थात् मैं उस प्रभु को कभी भुला न सकूँ) ॥५॥

---

१. शिव । २. (गो = पृथ्वी + रक्ष = रक्षक) विष्णु। ३. माता। ४. मैं। ५. बयान नहीं किया जा सकता। ६. हे सद्‌गुरु जी। ७. जीवों। ८. वह मुझे भूल न जाये। ९. श्री गुरु नानक देव जी ने अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर परमात्मा के लिए 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया है। परब्रह्म परमात्मा ही उनके गुरु थे। उनका कोई देहधारी गुरु नहीं था। उन्होंने स्वयं, अपनी वाणी में, कई स्थलों पर इस तथ्य की पुष्टि की है। यथा —

ततु निरंजनु जोति सबाई सोहं भेदु न कोई जीउ।।
अपरंपर पारब्रहमु परमेसरु नानक गुरु मिलिआ सोई जीउ।।

सोरठि, महला १, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ ५९९

तीरथि नावा[१], जे तिसु[२] भावा[३], विणु[४] भाणे कि नाइ करी[५]।।
जेती सिरठि[६] उपाई[७] वेखा[८], विणु करमा[९], कि मिलै लई।।

[पिछली पउड़ी में सद्गुरु तथा सद्गुरु द्वारा दिये गये उपदेश को सबसे ऊपर बता कर बहुदेववाद को नकारा गया है। सद्गुरु से ऐसी सूझ-बूझ प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गयी है कि जो सब का दाता, एक अद्वितीय परमात्मा है उसको अपने मन से किसी तरह भी, कभी भुलाया न जा सके। परन्तु बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो सद्गुरु द्वारा दिये गये उपदेश को व्यावहारिक रूप में नहीं अपनाते। वे अपने आचरण को उसके अनुसार ढालकर, प्रभु परमात्मा की कृपा-दृष्टि के पात्र बनने के लिए अथवा आत्म-विकास हेतु आवश्यक प्रयास नहीं करते । इसकी बजाय वे बाह्याचरण अथवा दिखावे मात्र को तरजीह देते हैं। वे तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने और वहाँ जाकर पूजा, स्नान और दान आदि करने को ही ईश्वर-प्राप्ति अथवा मुक्ति-प्राप्त करने का साधन मान लेते हैं। ऐसे लोगों का यह भी मानना है कि तीर्थों पर जाकर स्नान करने से व्यक्ति द्वारा किये हुए पापों का नाश हो जाता है। अब इस पउड़ी में श्री गुरु नानक देव जी गुरुमत के दृष्टिकोण से इस विषय पर प्रकाश डालते हैं।]

(श्री गुरु जी फ़रमाते हैं कि) मैं किसी तीर्थ पर जाकर स्नान तो तब करूँ यदि ऐसा करने से उस पति-परमेश्वर को भा सकूँ; उसे अच्छा लग सकूँ। उसे अच्छा लगे बिना (अर्थात् यदि तीर्थ-स्नान करने से परमात्मा मुझ पर प्रसन्न नहीं होता तो) तीर्थों पर नहा कर क्या करूँ? (इसका भाव यह है कि परमात्मा की समीपता का अनुभव करने के लिए तीर्थ-स्नान आदि की युक्ति कारगर नहीं है; ऐसा करने से परमात्मा की प्रसन्नता अथवा कृपा-दृष्टि का पात्र नहीं बना जा सकता।[१०])

प्रभु की उत्पन्न की हुई जितनी भी सृष्टि मैं देखता हूँ, (अर्थात् जितनी भी सृष्टि दिखायी देती है) उसमें कर्मों, प्रारब्ध अथवा भाग्य के बिना क्या मिलता है जो मैं भी (केवल तीर्थ-स्नान आदि करके ही) प्राप्त कर लूँ? (इसका भावार्थ यह है कि प्रभु की कृपा और प्रारब्ध के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।[११])

---

१. स्नान करूँ। २. उस (परमात्मा) को। ३. अच्छा या भला लगूँ, पसंद आ जाऊँ। ४. बिना। ५. नहाकर क्या करूँ। ६. सृष्टि। ७. पैदा की हुई। ८. देखता हूँ। ९. प्रारब्ध, भाग्य।

१०. तीर्थ के बारे में संक्षिप्त गुरुमत विचार जानने के लिए देखिये परिशिष्ट-३

११. कर्म-सिद्धान्त के बारे में गुरुमत विचार जानने के लिए देखिये परिशिष्ट-४

मति विचि[१] रतन जवाहर माणिक,[२]
जे इक, गुर की सिख[३] सुणी।।
गुरा[४], इक देहि बुझाई[५]।।
सभना जीआ[६] का इकु दाता, सो मै विसरि न जाई।।६।।

यदि सद्‌गुरु की एक शिक्षा सुन ली जाये (और उस पर आचरण किया जाये) तो साधक की बुद्धि में रत्न, जवाहर और मोती प्रकट हो जाते हैं। (इसका भावार्थ यह है कि सद्‌गुरु की शिक्षा को अपना लेने, अर्थात् सद्‌गुरु के उपदेश के अनुसार जीवन बिताने, का लाभ यह है कि संसार के सबसे बहुमूल्य पदार्थों रत्न, जवाहर, माणिक्य आदि से बढ़कर बेशकीमत परमात्मा का नाम, अर्थात् परमात्मा की सत्ता का अहसास, साधक की मति अथवा अन्तःकरण में प्रकट हो जाता है।

वास्तव में गुरु रूपी सागर स्वयं हरिनाम रूपी रत्न, जवाहर आदि पदार्थों का भण्डार है।[७] रत्न, जवाहर, लाल आदि जैसा परमात्मा का नाम हरेक मनुष्य की चेतना में छिपा पड़ा है। जो मनुष्य सद्‌गुरु की शरण में जाकर उससे शिक्षा-दीक्षा अथवा नसीहत लेकर उस पर आचरण करता है, गुरु उस के अन्दर हरिनाम प्रकट करके रख देता है— प्रत्यक्ष अथवा बिल्कुल स्पष्ट कर देता है।[८]

इसलिए सांसारिक धन, वैभव आदि की प्राप्ति के लिए भटकते फिरने की बजाय नाम सुमिरन की ओर ध्यान देना चाहिए। सुरत, ध्यान अथवा चेतना सदैव प्रभु के चरणों में जुड़ी रहे इसके लिए सद्‌गुरु के सम्मुख ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए—) हे सद्‌गुरु जी! मुझे ऐसा बोध करा दीजिए, मुझे एक ऐसी समझ-बूझ प्रदान कीजिये कि (जिसके फलस्वरूप) जो सब जीवों का एक, अद्वितीय दाता है वह (परमात्मा) मुझे कभी भूल न जाये (अर्थात् मैं उसे कभी, किसी तरह भी भूला न सकूँ) ।।६।।

---

१. बुद्धि में। २. कुछ ख़ास चमकीले बहुमूल्य पत्थर जो आभूषणों में जड़े जाते हैं हीरा, पन्ना, लाल आदि। ३. सीख, शिक्षा। ४. हे सद्‌गुरु जी। ५. ऐसा बोध करा दीजिये। ६. जीवों।

७. गुरु सागरु पूरा भंडार। ऊतम रतन जवाहर अपार।।

आसा महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ३६३

८. रतनु, जवेहरु लालु हरिनामा, गुरि काढि तली दिखलाइआ।
भागहीण मनमुखि नही लीआ, त्रिण ओलै लाखु छपाइआ।

रामकली, महला ४, वही, पृष्ठ ८८०

जे जुग चारे आरजा[१], होर दसूणी[२] होइ।।
नवा खंडा विचि जाणीऐ, नालि चलै सभु कोइ।।
चंगा नाउ रखाइ कै, जसु[३] कीरति[४] जगि[५] लेइ।।
जे, तिसु नदरि[६] न आवई, त, वात[७] न पुछै के।।

[पिछली पउड़ी में परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए तीर्थ-स्नान आदि को निरर्थक बताया गया है और इसकी बजाय सद्गुरु द्वारा दिये गये उपदेश के अनुसार अपना जीवन ढालकर, परमात्मा के बेशक़ीमत नाम को, अर्थात् परमात्मा के निरन्तर सुमिरन को अपने अन्दर, अपनी चेतना में, बसा लेने की नसीहत दी गयी है। परन्तु दीर्घ आयु, पद-प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, धन-वैभव आदि मनुष्य की कुछ ऐसी इच्छाएँ हैं जिनकी प्राप्ति के लिए अधिकतर लोग सदा लालायित रहते हैं। बहुत से लोग तो धन की प्राप्ति आदि को ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लेते हैं।

योगी, सिद्ध और अन्य तथाकथित चमत्कारी या करामाती लोग अपनी सिद्धियों अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों (supernatural powers) की सहायता से उपरोक्त इच्छाओं की पूर्ति करवाने का प्रलोभन देकर भोले-भाले लोगों को प्रभु-भक्ति में लगाने की बजाय सांसारिक जंजाल में और अधिक उलझा देते हैं। अब, इस पउड़ी में, श्री गुरु जी गुरुमत के दृष्टिकोण से उपरोक्त उपलब्धियों के बारे में प्रकाश डालते हैं।]

(श्री गुरुजी फ़रमाते है कि किसी विशेष साधन द्वारा अपनी आयु को लम्बा कर लेने का कोई लाभ नहीं है। यदि) किसी मनुष्य की आयु चारों युगों जितनी हो जाये, बल्कि उससे भी और दसगुनी (अर्थात् चालीस युगों जितनी लम्बी) हो जाये।

(और यदि) वह (उतनी लंबी उम्र वाला व्यक्ति) नवों खण्डों (अर्थात् संसार के सभी भागों) में जाना (अथवा प्रसिद्ध हो) जाये और (वह जिधर भी जाये) सभी लोग उसके साथ हो लें (अर्थात् सभी लोग उसके अनुयायी हो जायें, उसका कहा मानने लगें। और वह व्यक्ति) अच्छा नाम कमाकर, अथवा प्रसिद्धि पाकर, संसार में यश और कीर्ति प्राप्त कर ले ।

(परन्तु इतना प्रसिद्ध तथा सम्मानित होने पर भी,) यदि (कोई व्यक्ति) परमात्मा की कृपा-दृष्टि में नहीं आता (अर्थात् परमात्मा उस पर प्रसन्न नहीं होता) तो (वास्तव में वह ऐसा महत्वहीन, अदना अथवा तुच्छ व्यक्ति है) जिसकी कोई बात भी नहीं पूछता। (अर्थात् उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता।)

१. आयु। २. दसगुनी। ३. यश। ४. कीर्ति। ५. जगत में। ६. कृपा-दृष्टि में। ७. खोज-खबर।

कीटा अंदरि कीटु करि, दोसी दोसु धरे।।
नानक, निरगुणि[१] गुणु करे, गुणवंतिआ[२] गुणु दे।।
तेहा[३] कोइ न सुझई[४], जि तिसु गुणु कोइ करे।। ७।।

(ऐसा वह) दोषी (व्यक्ति) कीड़ों में एक तुच्छ कीड़े की तरह (नगण्य बनकर परमात्मा को भूलने और उसकी कृपा-दृष्टि का पात्र न बनने का) दोष धारण करता है।

(अब श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! वह दयालु प्रभु गुणहीन व्यक्तियों में भी (जो उसकी शरण में आ जाते हैं) गुण पैदा कर देता है और जो गुणवान् (लोग नज़र आते) हैं उन्हें भी गुण वह ही देता है (अर्थात् जिस किसी व्यक्ति में जो कोई भी गुण हैं वे सब परमात्मा के ही दिये हुए हैं अतः उन गुणों का अंहकार करना किसी तरह भी उचित नहीं है)।

(सारी सृष्टि में) उस प्रभु जैसा अन्य कोई दिखाई नहीं देता जो उस कर्त्ता पुरुष, परमात्मा को कोई नया गुण दे सके (उसके गुणों में कोई वृद्धि कर सके। इसका भावार्थ यह है कि वह परम-उदारचित्त एक, अद्वितीय परमात्मा आप ही सभी गुणों का स्वामी है। उस गुणनिधि से अधिक गुणों वाली कोई सत्ता हो ही नहीं सकती जो उसे कोई गुण दे सके। एक बात और। किसी प्रकार की बढ़ोतरी, सुधार या परिवर्तन तो अपूर्णता या कमी की निशानी है जबकि परमात्मा सदा एकरूप अथवा एक-सा ही रहता है। वह अपरिणामी है, निर्विकार है, सर्वथा परिपूर्ण है, उसमें किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है)।।७।।

[इस पउड़ी में यह समझाया गया है कि लम्बी उम्रवाला होना या किसी तरह अपनी उम्र को बढ़ा लेना, प्रभु-परमात्मा की कृपा-दृष्टि का पात्र बनने अथवा मुक्ति प्राप्त करने का कोई कारगर साधन नहीं है। न ही संसार भर में किसी की प्रसिद्धि और यश-कीर्ति अथवा किसी के अनुयायियों की बहुत बड़ी संख्या उसके धर्मात्मा होने का प्रमाण है। पारमार्थिक या आध्यात्मिक दृष्टि से किसी व्यक्ति का सारा दुनियावी जलाल, प्रताप या समृद्धि आदि अर्थहीन हैं। सुमिरन-विहीन, परन्तु हर प्रकार से सम्पन्न और दीर्घ आयुवाले, जीवन की अपेक्षा नाम-सुमिरन में पगा हुआ अल्प आयुवाला साधारण जीवन ज़्यादा अच्छा है। इसलिए सांसारिक दृष्टि से कोई व्यक्ति चाहे कितना भी महान् क्यों न हो जाये, उसे चाहिए कि वह उस, सब के दाता, वाहिगुरु को कभी न भूले जिसकी कृपा से उसे इतना कुछ उपलब्ध हो सका है। यदि कोई व्यक्ति संसार-भर में सुप्रसिद्ध हो जाने पर भी परमात्मा की कृपा-दृष्टि का पात्र नहीं बनता तो वह मनुष्य हो कर भी तुच्छतम कीड़े के समान है क्योंकि वह प्रभु को भुला देने का दोषी है।)]

१. गुणहीन व्यक्ति में। २. गुणवान मनुष्यों को। ३. उस जैसा। ४. नहीं सूझता, दिखाई नहीं देता।

सुनने का भाव

[पाँचवीं पउड़ी में हरि-नाम के गायन, श्रवण और मन में परमात्मा के प्रति अटूट श्रद्धा एवं प्रेम धारण करने का उपदेश दिया गया है। छठी पउड़ी में बताया गया है कि सद्‌गुरु की शिक्षा को सुन लेने से, उसपर आचरण करने से, शिष्य-साधक की बुद्धि अथवा अन्त:करण में रत्न, जवाहर और मोतियों जैसा बेशकीमत परमात्मा का नाम प्रकट हो जाता है। अब, श्री गुरु जी, आठवीं से ग्यारहवीं पउड़ी तक 'सुनने' या 'श्रवण' के माहात्म्य का वर्णन करते हैं। अत: आगे बढ़ने से पहले श्रवण अथवा सुनने के भावार्थ और महत्त्व पर कुछ विचार कर लेना असंगत नहीं होगा।

सुखी जीवन बिताने के लिए, मनुष्य को, परमात्मा द्वारा दी हुई, पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों— आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा— की ज़रूरत पड़ती है। इन पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों का अपना-अपना काम और महत्व है। परन्तु ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य जितना कानों और आँखों का प्रयोग करता है उतना अन्य इन्द्रियों का नहीं। ये दोनों इन्द्रियाँ एक-दूसरे की सहायक भी हैं और पूरक भी। लिखना-पढ़ना भी 'सुनने' के बिना सम्भव नहीं है। लिखते-पढ़ते समय हम किसी न किसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो हमने पहले कानों द्वारा सुनकर ही सीखी होती है। फिर, हम जो कुछ पढ़ते या लिखते हैं, उसका साथ-साथ उच्चारण करके उसे सुनते भी जाते हैं।

पुराने ज़माने में, जब भाषा को लिखित रूप प्राप्त नहीं हुआ था, और बाद में भाषा के लिखित रूप में आ जाने पर भी जब पुस्तकें पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं होती थीं, 'सुनना' ही ज्ञान प्राप्त करने का मुख्य साधन था। आज भी, जब पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, शब्द या आवाज़ ही विचारों अथवा ज्ञान के आदान-प्रदान का सबसे बड़ा और सशक्त माध्यम है। आवाज़ को कानों द्वारा ग्रहण करके ही दिमाग़ की सहायता से शब्दों के अर्थ-भाव समझे जाते हैं। यदि गोचर, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य, स्थूल संसार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'सुनना' मुख्य साधन है तो आध्यात्मिक ज्ञान, जो अति सूक्ष्म है, की प्राप्ति के लिए 'सुनने' की आवश्यकता से कैसे इनकार किया जा सकता है?

प्रसिद्ध मनोरोग-विज्ञानी (psychiatrist) ऐम. स्कॉट पैक ने, अपनी अंग्रेजी में लिखी पुस्तक *'द रोड लैस ट्रैवल्ड'*[१] में 'सुनने' के महत्त्व को बख़ूबी रेखांकित किया है, जिसका संक्षेप सार कुछ निम्नलिखित के अनुसार है।

'सुनना अपने मनोयोग (attention) का परीक्षण करने अथवा ध्यान या तवज्जुह को आज़माने का सबसे साधारण और बढ़िया तरीक़ा है। हम अपने जीवन का अधिकतर समय सुनने में ख़र्च करते हैं। परन्तु इस सुनने के समय का अधिकांश भाग

१. लण्डन, ऐरो बुक्स, १९९०, पृष्ठ १२९-३९

ज़ाया कर देते हैं क्योंकि हममें से बहुत से लोगों को ठीक तरह से सुनना ही नहीं आता। और, सुनने का नाटक मात्र करना या चयनात्मक (selective) सुनना अपने आपको धोखा देने के समान है।

सच्चे अर्थों में सुनना निरन्तर मनोयोग की मांग करता है और मनोयोग निरंतर अभ्यास (practice)की। यह अपने आपमें श्रम-साध्य काम है। इसलिए सुनना वास्तव में ही कठिन अभ्यास है। इसके लिए सबसे पहले पूरी एकाग्रता की ज़रूरत पड़ती है। यदि आप किसी को ठीक ढंग से सुनना चाहते हैं तो उसे सुनने के दौरान— चाहे यह अवधि कितनी ही छोटी क्यों न हो— आप और कुछ भी नहीं कर सकते। सुनते समय बाकी सब कुछ एक तरफ़ करना पड़ता है। पूरी तवज्जुह केवल सुनने में ही लगानी पड़ती है। सुनने के दौरान पूरा समय पूरी तरह वक्ता को ही देना पड़ता है। यदि सुनते समय आप अपनी चिन्ताओं, व्यस्तताओं, पूर्वाग्रहों और इच्छाओं आदि सहित बाकी सब कुछ दरकिनार करने के लिए तैयार नहीं हैं तो समझ लीजिये कि आप सुनने के लिए तैयार ही नहीं हैं। सच्चे अर्थों में सुनने के लिए वक्ता के कथन पर अपने मन को पूरी तरह एकाग्र करके, उस द्वारा बोले गये हरेक शब्द को तौलना और उसके हरेक वाक्य को समझना होता है। जहाँ तक हो सके अपने आप को वक्ता की जगह रखकर उसके मानसिक संसार को अन्दर से अनुभव करके उसके कथन को पूरी तरह समझना और स्वीकार करना होता है। इस प्रकार प्राप्त होनेवाले वक्ता और श्रोता के एकीकरण से नया ज्ञान हासिल होता है।'

उपरोक्त से स्पष्ट है कि 'सुनना' मनुष्य मात्र के लिए एक सामान्य क्रिया है। परन्तु 'सुनने' का अर्थ 'एक कान से सुन कर दूसरे से बाहर निकाल देना' या दोनों कानों से सुनकर दूसरों को सुना देना मात्र नहीं है। 'सुनने' का अर्थ मात्र चुपचाप, बिना कुछ बोले 'हाँ' कर देना भी नहीं है। जो कुछ कहा जा रहा है, उसकी ओर पूरा ध्यान देना और मन लगाकर उसके अर्थ-भाव को ग्रहण करना ज़रूरी है।

आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज़रूरी है कि हम अपने अहंकार को नकार कर शान्त कर दें और कानों में पड़ रहे सद्गुरु के शब्द अथवा उपदेश या सत्संग में हो रहे कथा, कीर्तन, आदि को अपना ध्यान पूरी तरह केन्द्रित करके, श्रद्धापूर्वक, किसी कुतर्क अथवा दुराग्रह के बिना सुनें। सुनते समय हमारा रवैया पूरी तरह खुलेपन के साथ कुछ समझने और ग्रहण करनेवाला होना चाहिए। जो सुना जाये उसे गुनकर अपने जीवन में उतारना परम आवश्यक है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में 'सुनने' का एक विशेष संकल्प (concept) और महत्त्व है। परमात्मा का नाम सुनने का अर्थ है— अपने अन्दर और बाहर, सर्वत्र परमात्मा की विद्यमानता को निरन्तर अनुभव करना। श्री जपुजी साहिब की 'सुणिऐ' वाली, अगली चार पउड़ियों में इसका यही अर्थ अभिप्रेत है।

सुणिऐ[१], सिध[२] पीर सुरि नाथ[३]।।
सुणिऐ, धरति धवल[४] आकास।
सुणिऐ, दीप[५] लोअ[६] पाताल।।
सुणिऐ, पोहि न सकै[७] कालु।।
नानक, भगता सदा विगासु[८]।।
सुणिऐ, दूख, पाप का नासु।। ८।।

परमात्मा का नाम सुनने से (अपनी सुरत, ध्यान, सुध अथवा चेतना को परमात्मा की याद में लगा देने से, अर्थात् परमात्मा की विद्यमानता को सदा, सर्वत्र अनुभव करने से अथवा केवल नाम-साधना द्वारा ही साधारण मनुष्य को) सिद्धि-प्राप्त योगियों, पीर-मुर्शिदों, धर्म-गुरुओं और बड़े नाथ-योगियों (नाथेश्वरों अथवा योगिराजों) के बारे में पता चल जाता है (अर्थात् उनकी पदवियाँ तथा उनका ज्ञान प्राप्त हो जाता है)।

परमात्मा का नाम सुनने से ही धरती, उसको आश्रय देने वाले कल्पित बैल 'धवल'[९] और आकाश (की वास्तविकता) का पता चल जाता है। (नाम-साधना करने से यह समझ आ जाता है कि धरती और आकाश आदि का आश्रय केवल परमात्मा स्वयं ही है, कोई या कुछ और नहीं)।

परमात्मा का नाम सुनने से सभी द्वीपों, भुवनों अथवा लोकों और पातालों का ज्ञान हो जाता है। (यह पता चल जाता है परमात्मा सब जगह विद्यमान है और सारा ब्रह्माण्ड उसके द्वारा बनाये विधान के अधीन चल रहा है)।

(परमात्मा की तरह उसका नाम भी काल-जाल की फाँस से स्वतंत्र है और) परमात्मा का नाम सुनने से साधक पर भी काल अपना प्रभाव नहीं डाल सकता (अर्थात् मृत्यु उस पर हावी नहीं हो सकती)।

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (प्रभु के नाम में मन लगाने वाले) भक्तों को सदा विकास (प्रसन्नता या आनन्द) प्राप्त होता है। (अर्थात् वे सदा आनन्दमग्न रहते हैं क्योंकि) नाम सुनने से उनके दुःखों और पापों का नाश हो जाता है।।८।।

---

१. सुनने से। २. सिद्धि-प्राप्त योगी। ३. बड़े नाथ-योगी, नाथेश्वर। ४. पृथ्वी को आश्रय देने वाला कल्पित बैल। ५. द्वीप। ६. लोक, भुवन। ७. छू नहीं सकता। ८. प्रफुल्लता, आनन्द।

९. 'धवल' के बारे में तनिक विस्तृत जानकारी के लिए देखिये पउड़ी १६ की व्याख्या।

सुणिऐ, ईसरु[१] बरमा इंदु[२]।।
सुणिऐ, मुखि सालाहण मंदु[३]।।
सुणिऐ, जोग जुगति[४] तनि भेद।।
सुणिऐ, सासत[५] सिम्रिति वेद।।
नानक, भगता सदा विगासु।।
सुणिऐ, दूख, पाप का नासु।। ९।।

(परमात्मा का) नाम सुनने से (अपनी सुरत, ध्यान अथवा सुध को परमात्मा की याद में लगा देने अर्थात् परमात्मा की, विद्यमानता को सदा, सर्वत्र अनुभव करने से अथवा केवल नाम-साधना द्वारा ही, साधारण मनुष्य को) शिव, ब्रह्मा और देवराज इन्द्र आदि की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। (यह पता लग जाता है कि वे कोई स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं हैं बल्कि पुराने लोगों द्वारा परमात्मा की अपार शक्ति के विभिन्न पहलुओं को सजीव समझ कर उनके रखे हुए नाम हैं।)

(परमात्मा का) नाम सुनने से (अर्थात् नाम-साधना द्वारा) खोटी अक्लवाला अथवा नीच प्रकृतिवाल मनुष्य भी अपने मुँह से प्रभु-परमात्मा की सराहना करने लग पड़ता है। (इसका भाव यह है कि नाम-साधना करने से खोटे मनुष्यों को भी यह समझ आ जाती है कि सभी देवता आदि वाहिगुरु, परमात्मा के अधीन हैं अत: सब का स्वामी परमात्मा ही स्तुति अथवा गुणगान करने योग्य है)।

हरि-नाम सुनने से (सामान्य या मामूली बुद्धि वाले व्यक्ति को भी) योग की (अर्थात् प्रभु, परमात्मा से जुड़ने की) युक्ति समझ में आ जाती है और शरीर के आन्तरिक भेदों का ज्ञान हो जाता है। (नाम-साधक को उन बातों की समझ आ जाती है जो परमात्मा से जुड़ने में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। उसे पता चल जाता है कि मन और ज्ञान-इंद्रियाँ कैसे मनुष्य को सांसारिक विकारों अथवा मोह, माया के फंदों की ओर आकर्षित करके परमात्मा से दूर कर देती हैं।)

(अपनी चेतना को परमात्मा की याद में जोड़ देने से) शास्त्रों, स्मृतियों और वेदों आदि धर्म-ग्रन्थों का (गूढ़ अथवा दुर्बोध) ज्ञान (अपने आप) समझ में आ जाता है।

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (प्रभु के नाम में मन लगाने वाले) भक्तों को सदा विकास (प्रसन्नता या आनन्द) प्राप्त होता है। (अर्थात् वे सदा आनन्दमग्न रहते हैं क्योंकि) नाम सुनने से उनके दु:खों और पापों का नाश हो जाता है।। ९।।

---

१. शिव। २. इन्द्र। ३. मन्दमति, खोटी अक्लवाला व्यक्ति। ४. योग की युक्ति। ५. शास्त्र।

सुणिऐ, सतु[1] संतोखु[2] गिआनु।।
सुणिऐ, अठसठि का इसनानु[3]।।
सुणिऐ, पड़ि पड़ि[4] पावहि[5] मानु।।
सुणिऐ, लागै सहजि[6] धिआनु[7]।।
नानक, भगता सदा विगासु।।
सुणिऐ, दूख, पाप का नासु।। १०।।

परमात्मा का नाम सुनने से (अपनी सुरत, ध्यान अथवा सुध को परमात्मा की याद में जोड़ देने से, अर्थात् परमात्मा की विद्यमानता को सदा, सर्वत्र अनुभव करने से अथवा केवल नाम-साधना द्वारा ही साधारण मनुष्य के मन से स्वामित्व की भावना का अभाव हो जाता है। फलत: उसके मन में धन-पदार्थ आदि का) दान देने और संतोष अथवा तृप्त रहने की भावना उत्पन्न हो जाती है और उसे यथार्थ-ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा का नाम सुनने से अड़सठ (अर्थात् सभी) तीर्थों का स्नान अपने-आप हो जाता है। (इसका भाव यह है कि परमात्मा का नाम सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। इसमें अवगाहन करने के लिए कहीं जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। हरि नाम रूपी तीर्थ में स्नान करने से वे सभी फल प्राप्त हो जाते हैं जिनके लिए लोग सांसारिक तीर्थों पर जाया करते हैं।)

परमात्मा के नाम का श्रवण करने से (अथवा परमात्मा की याद मन में बनाये रखने से) वह मान, प्रतिष्ठा या आदर-सत्कार अपनेआप ही प्राप्त हो जाता है जिसे विद्वान् लोग अनेक प्रकार का अध्ययन करके प्राप्त करते हैं।

परमात्मा का नाम सुनने से (चित्त की वृत्तियाँ नियन्त्रित हो जाती हैं और) साधक का ध्यान सहज (अर्थात् माया के तीन गुणों से परे पूर्ण ज्ञान वाली अवस्था) में लग जाता है; टिक जाता है।

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (प्रभु के नाम में मन लगाने वाले) भक्तों को सदा विकास (आनन्द) प्राप्त होता है। (अर्थात् वे सदा आनन्दमग्न रहते हैं क्योंकि) नाम सुनने से उनके दु:खों और पापों का नाश हो जाता है।। १०।।

---

१. स्वामित्व की भावना का त्याग। २. सन्तोष। ३. हिन्दू धर्म के अड़सठ तीर्थों का स्नान। ४. पढ़ पढ़कर। ५. प्राप्त करते हैं। ६. सहज अवस्था में। ७. विषय-विशेष में चित्त की एकाग्रता।

सुणिऐ, सरा[१] गुणा के गाह[२]।।
सुणिऐ, सेख[३] पीर[४] पातिसाह।।
सुणिऐ, अंधे पावहि राहु[५]।।
सुणिऐ, हाथ होवै असगाहु[६]।।
नानक, भगता सदा विगासु।।
सुणिऐ, दूख, पाप का नासु।। ११।।

परमात्मा का नाम सुनने से (अपनी सुरत, ध्यान अथवा चेतना को परमात्मा की याद में जोड़ देने से, अर्थात् परमात्मा की विद्यमानता को सदा, सर्वत्र अनुभव करने से साधारण) मनुष्य गुण के सागरों का अवगाहन करने वाले हो जाते हैं (अर्थात् वे अनन्त, श्रेष्ठ गुणों के स्वामी बन जाते हैं)।

हरि के 'नाम' का श्रवण करने से ही धर्मशास्त्रियों, धर्म-गुरुओं तथा राजाओं की पदवियाँ (और योग्यताएँ) प्राप्त हो जाती हैं (अर्थात् हरि-नाम का श्रवण करके साधारण मनुष्य भी, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में सफलता-पूर्वक कार्य करने के योग्य हो जाते हैं)।

(एकाग्रचित्त होकर परमात्मा का) नाम सुनने से अन्धे (अर्थात् ज्ञान-नेत्र-विहीन, अज्ञानी) व्यक्ति भी प्रभु परमात्मा से मिलने की राह पा लेते हैं (अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के लिए उन्हें इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता)।

'नाम' सुनने से (हरि के नाम का अवगाहन करने से) संसार रूपी अथाह सागर की गहराई केवल हाथ-भर हो जाती है। (अर्थात् प्रभु का नाम सुनने से मनुष्य संसार रूपी अति-गहन सागर की तह तक पहुँचने योग्य हो जाता है— उसे संसार-सागर की मायावी लहरें डुबा नहीं सकतीं क्योंकि वह संसार की असारता को जान लेता है। अत: वह संसार सागर में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है।)

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (प्रभु के नाम में मन लगाने वाले) भक्तों को सदा विकास (आनन्द) प्राप्त होता है। (अर्थात् वे सदा आनन्दमग्न रहते हैं क्योंकि) नाम सुनने से उनके दु:खों और पापों का नाश हो जाता है।। ११।।

१. सरोवरों। २. थाह लेनेवाले, अवगाहन करनेवाले। ३. इस्लामी धर्मशास्त्री। ४. धर्म-गुरु। ५. राह, रास्ता। ६. अथाह।

मंने[1] की गति[2], कही न जाइ॥
जे को[3] कहै[4], पिछै पछुताइ॥
कागदि[5] कलम न लिखणहारु[6]॥
मंने का बहि[7] करनि वीचारु॥
ऐसा, नामु निरंजनु[8] होइ॥

[८ से ११ पउड़ी तक श्रवण अथवा सुनने की महत्ता का निरूपण किया गया है। परन्तु किसी बात को केवल सुन लेना ही पर्याप्त नहीं है। जो कुछ सुना है उसको गुनना, उस पर विचार करना और उसे व्यवहार में लाना अति आवश्यक है। कहा जाता है कि व्यवहार ही जीवन है। पढ़-सुन कर प्राप्त किये हुए ज्ञान को जीवन में ढालना ही उसका वास्तविक उपयोग एवं लाभ है। अन्यथा गुरु द्वारा दिये गये उपदेश आदि का सुनना न सुनना एक समान है। अब श्री गुरु नानक देव जी पउड़ी १२ से १५ तक 'मानने' के प्रभाव अथवा महत्त्व का वर्णन करते हैं।]

परमात्मा के नाम को मान लेने (परमात्मा के अस्तित्व तथा उसकी सर्वत्र, निरंतर विद्यमानता को मन द्वारा स्वीकार कर लेने अर्थात् उसके अस्तित्व का एहसास अपने मन में बिठा लेने और इस प्रकार परमात्मा की हुजूरी में रहकर जीवन बिताने) से प्राप्त होने वाली उच्च आत्मिक अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता।

यदि कोई व्यक्ति इस (उच्च आत्मिक) अवस्था का कथन करने का प्रयत्न करता है तो बाद में (ऐसा करने में असफल रहने के कारण) वह पश्चात्ताप ही करता है। (इसका भाव यह है कि परमात्मा की निरंतर याद में रहने और उसे सदा अपने साथ उपस्थित समझने का जो अनुभव है उसका आनन्द तो लिया जा सकता है परन्तु उसे बयान नहीं किया जा सकता।)

(साधक की उस आत्मिक अवस्था को लिखने के लिए संसार में) न तो कोई ऐसी विचित्र लेखनी है और न ही उसे कागज़ पर लिख सकने वाला कोई सुयोग्य लेखक। चाहे कुछ लोग इकट्ठे बैठकर (परमात्मा के नाम अथवा अस्तित्व पर विश्वास को दृढ़तापूर्वक मन में बसा लेने से प्राप्त होने वाली उच्च आत्मिक अवस्था) के बारे में आपस में विचार-विमर्श अथवा सलाह-मशवरा भी करते रहें।

प्रभु-परमात्मा का, माया-मल से रहित अर्थात् माया के प्रभाव से स्वतन्त्र, नाम ऐसा (सबल तथा गुणकारी) है (जो साधकों को ऐसी ऊँची अवस्था में पहुँचा देता है जिसका बयान नहीं किया जा सकता। परन्तु नाम का ऐसा अनुभव तभी होता है) यदि

१. मानने, यकीन कर लेने। २. अवस्था, हालत। ३. यदि कोई व्यक्ति। ४. कहे, बयान करे। ५. कागज़ पर। ६. लेखक। ७ बैठकर, ध्यान से। ८. मायामल से रहित।

जे को मंनि जाणै, मनि[1] कोइ॥ १२॥

कोई व्यक्ति (परमात्मा के नाम अथवा अस्तित्व को केवल दिमाग़ से ही नहीं बल्कि) अपने मन द्वारा मान ले। (अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सर्वत्र उपस्थिति के अहसास को अपने मन में दृढ़तापूर्वक बसा ले) ॥१२॥

[इस पउड़ी की अन्तिम पंक्ति के शब्द 'जे को मंनि जाणै मनि कोइ' इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि परमात्मा की स्तुति अथवा किसी सुने हुए उपदेश आदि के प्रभाव का पता तभी चलता है यदि कोई उस उपदेश आदि को अपने मन द्वारा अपना ले अथवा अपने जीवन में ढाल ले, अन्यथा नहीं। मन द्वारा मानने पर बल इसलिए दिया गया लगता है क्योंकि हम बहुत सी बातों को बुद्धि द्वारा मानते तो हैं परन्तु मानसिक और व्यावहारिक तौर पर उन्हें नहीं अपनाते। उदाहरणार्थ, हम सभी जानते हैं कि हरेक को एक न एक दिन मर जाना है। परन्तु फिर भी किसी मित्र-बन्धु की मृत्यु हो जाने पर हम शोकातुर हो उठते हैं। परन्तु कुछ समय बाद ही सांसारिक कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं। कुछ और समय बीत जाने पर हम मृत व्यक्ति को भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि हमें भी एक दिन इस संसार से कूच कर जाना है। और इस तरह हम जीवन भर सांसारिक बन्धनों में जुते रहते हैं।

परमात्मा के नाम का सुनना और मानना कोई बौद्धिक क़वायद —exercise— अथवा कल्पना मात्र नहीं है। यह एक वास्तविक तथा व्यावहारिक अनुशासन है। इसमें चित्त को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाकर अन्तर्मुख किया जाता है। मन को, जो साधारणतः हमारे सभी कार्यों को नियन्त्रित करता है, परमात्मा के नाम, परमात्मा की निरंतर याद अथवा परमात्मा की हुज़ूरी में नियोजित कर दिया जाता है। और, इस प्रकार हाथ-पाँव आदि से सभी ज़रूरी काम आदि करते हुए भी परमात्मा की याद मन में बनाये रखनी होती है।[2]]

---

१. मन द्वारा, मन में।

२. नामा कहै तिलोचना, मुख ते रामु संम्हालि॥
हाथ पाउ करि कामु सभु, चीतु निरंजन नालि॥ २१३॥
सलोक, भगत कबीर जी, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३७५-७६

मंनै[१], सुरति[२] होवै मनि बुधि॥
मंनै, सगल[३] भवण[४] की सुधि[५]॥
मंनै, मुहि चोटा ना खाइ॥
मंनै, जम[६] कै साथि न जाइ॥
ऐसा, नामु निरंजनु होइ॥
जे को मंनि जाणै, मनि कोइ॥ १३॥

परमात्मा के नाम को मन में बसा लेने से (साधक के) मन और बुद्धि में नई चेतनता अथवा जागृति आ जाती है (अर्थात् माया के प्रभाव के कारण बेसुध हुए मन और बुद्धि को होश आ जाती है)।

हरि-नाम को मन में बसा लेने से (परमात्मा के अस्तित्व तथा उसकी सर्वत्र, निरंतर विद्यमानता के अहसास को मन द्वारा स्वीकार कर लेने से) साधक को सभी भुवनों अथवा लोकों की सूझ प्राप्त हो जाती है। (उसे जीवन के सभी पहलुओं का ज्ञान हो जाता है और वह जीवन के हरेक क्षेत्र में कुशल हो जाता है।)

'नाम' को मन में बसा लेने से (अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व के एहसास को अपने मन में दृढ़तापूर्वक बिठा लेने से) मनुष्य अपने मुँह पर साँसारिक विकारों की चोटें या मार नहीं खाता। (अर्थात्, वह सांसारिक विकारों के प्रभाव से बचा रहता है।)

(ऐसा नाम-अभ्यासी व्यक्ति) देह-त्याग के बाद यमदूतों के साथ (उनका बन्दी बनकर) नहीं जाता। (उसे यमदूतों की यातना नहीं सहनी पड़ती। यमदूत तो उसके निकट भी नहीं फटक सकते।[७] प्रभु को मन में बसा लेने के कारण, उसे मृत्यु के भय से नजात मिल जाती है।)

प्रभु-परमात्मा का, माया-मल से रहित, अर्थात् माया के प्रभाव से स्वतन्त्र, नाम ऐसा (सबल और गुणकारी) है (जो नाम-साधकों को ऐसी अवस्था में पहुँचा देता है जिस का बयान नहीं किया जा सकता। परन्तु नाम का ऐसा अनुभव तभी होता है) यदि कोई व्यक्ति (परमात्मा के नाम अथवा अस्तित्व को केवल दिमाग़ से ही नहीं बल्कि) अपने मन द्वारा मान ले (अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सर्वत्र उपस्थिति के अहसास को अपने मन में दृढ़तापूर्वक बसा ले) ॥१३॥

---

१. मन में बसा लेने से। २. जागृति, चेतनता। ३. सभी। ४. भुवनों की। ५. चेत-खबर। ६. यमदूत।
७. जितु घटि वसै पारब्रहमु सोई सुहावा थाउ॥
जम कंकरु नेड़ि न आवई रसना हरि गुण गाउ॥ गउड़ी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २१८

मंनै, मारगि[१] ठाक[२] न पाइ॥
मंनै, पति सिउ[३] परगटु जाइ॥
मंनै, मगु[४] न चलै पंथु[४]॥
मंनै, धरम सेती[५] सनबंधु[६]॥
ऐसा, नामु निरंजनु होइ॥
जे को मंनि जाणै, मनि कोइ॥ १४॥

परमात्मा के नाम को मन में बसा लेने से (परमात्मा को सदा हाज़िर-नाज़िर जान कर जीवन बिताने से) साधक के रास्ते में (विकारों आदि की) कोई बाधा नहीं पड़ती। (हरि-नाम की राहदारी पास होने के कारण उसकी आत्मिक उन्नति में कोई रुकावट नहीं आती; उसकी आत्म-विकास रूपी यात्रा की राह सहज, सरल हो जाती है।)

नाम को मन में बसा लेने से (साधारण व्यक्ति भी) परमात्मा की दरगाह (अथवा परमात्मा के दरबार) में जाकर आदर-सत्कार प्राप्त करता है।

'नाम' को मन में बसा लेने से साधक कोई पगडंडी तय नहीं करता। (अर्थात् हरिनाम में मन एवं सुरत जोड़कर आचरण करनेवाला साधक संसार में आम लोगों द्वारा चलाये नाना प्रकार के मत-मतान्तरों रूपी पगडंडियों में से कोई पगडंडी नहीं अपनाता। वह असली धर्म की राह से इधर-उधर नहीं भटकता। वह किसी प्रकार की दुबिधा में नहीं पड़ता।)

परमात्मा के नाम को मन में बसा लेने से साधक का धर्म (अर्थात् ईश्वरीय मर्यादा अथवा विधान) के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है (और वह दैवी नियम के अनुसार जीवन बिताने में मग्न रहता है)।

प्रभु-परमात्मा का माया-मल से रहित नाम ऐसा (सबल और गुणकारी) है (जो साधकों को ऐसी ऊँची अवस्था में पहुँचा देता है जिसका बयान नहीं किया जा सकता। परन्तु नाम का ऐसा अनुभव तभी होता है) यदि कोई व्यक्ति (परमात्मा के नाम अथवा अस्तित्व को केवल दिमाग़ से ही नहीं बल्कि) अपने मन द्वारा मान ले, अपना ले (अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सर्वत्र उपस्थिति के अहसास को अपने मन में दृढ़तापूर्वक बसा ले) ॥१४॥

१. मार्ग में। २. बाधा, रुकावट। ३. सहित। ४. मार्ग, रास्ता। ५. साथ। ६. सम्बन्ध, नाता।

मंनै, पावहि मोखु[१] दुआरु[२]॥
मंनै, परवारै साधारु[३]॥
मंनै, तरै, तारे गुरु सिख॥
मंनै, नानक भवहि[४] न भिख[५]॥
ऐसा, नामु निरंजनु होइ॥
जे को मंनि जाणै, मनि कोइ॥ १५॥

परमात्मा के नाम को मन में बसा लेने से (अर्थात् अपनी सुरत अथवा चेतना द्वारा निरन्तर प्रभु के नाम का अभ्यास करने से) जीव (संसार के मोह अथवा जन्म-मरण के चक्कर से) छुटकारा देने वाली राह, साधन अथवा युक्ति पा लेते हैं।

परमात्मा के नाम को मन में बसा लेने से साधक अपने परिवार (अथवा समाज) को भी प्रभु के नाम का आधार या आश्रय प्रदान कर देता है। (वह दूसरों के सम्मुख एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करके लोगों के मन में हरिनाम का सहारा लेने के लिए विश्वास दृढ़ करवा देता है और वे भी नाम-साधना में लग जाते हैं।)

इस प्रकार परमात्मा के नाम अथवा याद में मग्न रहने से गुरु (आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक) स्वयं संसार-सागर से पार हो जाता है और (आत्मिक उन्नति की राह दिखाकर) अपने शिष्यों को भी (संसार-सागर से) पार कर लेता है।

(अपने आप को सम्बोधित करते हुए, श्री गुरु जी फ़रमाते हैं,) हे नानक! जो लोग परमात्मा के नाम को अपने मन में बसा लेते हैं (नाम में सुरत जोड़कर जीवन बिताते हैं) वे आध्यात्मिक शिक्षा के लिए द्वार-द्वार पर याचना नहीं करते फिरते।[६]

प्रभु-परमात्मा का, माया-मल से स्वतंत्र, नाम ऐसा (सबल और गुणकारी) है (जो साधकों को ऐसी ऊँची अवस्था में पहुँचा देता है जिसका बयान नहीं किया जा सकता। परन्तु नाम का ऐसा अनुभव तभी होता है) यदि कोई व्यक्ति (परमात्मा के नाम अथवा अस्तित्व को केवल दिमाग़ से ही नहीं बल्कि) अपने मन द्वारा मान ले, (अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सर्वत्र उपस्थिति के अहसास को अपने मन में दृढ़तापूर्वक बसा ले) ॥१५॥

१. मोक्ष, मुक्ति। २. साधन, रास्ता। ३. आधार-सहित। ४. घूमते, भटकते। ५. भीख।
६. याचना करना अभाव की निशानी है। परमात्मा को सदैव हाज़िर-नाज़िर (मौजूद और दर्शक) समझकर जीवन बितानेवाले व्यक्तियों को संसार के बंधनों से मुक्ति प्राप्त करने की सरल युक्ति प्राप्त हो जाती है। वे निरन्तर नाम-अभ्यास द्वारा परमात्मा से जुड़े रहते हैं। उन्हें किसी अन्य व्यक्ति से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्थान-स्थान पर भटकना नहीं पड़ता।

पंच का अर्थ

[पीछे ८ से ११ पउड़ी तक 'सुनने' और १२ से १५ पउड़ी तक 'मानने' के महत्त्व का वर्णन किया गया है। सोलहवीं पउड़ी की पहिली चार पंक्तियाँ 'पंच' शब्द के साथ शुरू होती हैं। अत: इस पउड़ी पर विचार करने से पहले 'पंच' शब्द के अर्थ-भाव को समझ लेना चाहिए।

'पंच' शब्द संस्कृत के पंचन् का समानार्थक है। इसका साधारण अर्थ है— पाँच।[१] प्राचीन भारतीय समाज में हर जाति, बिरादरी अथवा गाँव में कुछ प्रतिष्ठित अथवा रूसूख़वाले लोगों को मुखिया चुनकर उनकी एक समिति या दल बना लिया जाता था। ऐसी समिति के सदस्यों की संख्या प्राय: पाँच हुआ करती थी। संभवत: इसीलिए ऐसे दलों के प्रत्येक सदस्य को 'पंच' कहा जाता था। ऐसे पाँच प्रधान पुरुषों के समूह, दल या समिति को पंचायत कहते थे। पंचायत का मुखिया सरपंच कहलाता था। आपस के सामाजिक अथवा जाति, बिरादरी आदि के झगड़ों या विवादों का निर्णय करना संबंधित पंचायत का काम हुआ करता था। पंचायत का निर्णय सारी संबंधित जाति, बिरादरी या समाज को मान्य होता था। इस बारे में आज भी कुछ कहावतें प्रचल्लित हैं, जैसे— "पंच मुख परमेश्वर" (अर्थात् पंचों की आज्ञा परमेश्वर की आज्ञा होती है) और "पंच मिल ख़ुदा, ख़ुदा मिल पंच" (अर्थात् पंचों में ईश्वर का वास होता है और ईश्वर में पंचों का)।

आध्यात्मिक अथवा रहस्यवादी मुहावरे के अनुसार 'पंच' वह व्यक्ति है जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है। ऐसे पंच का चयन (choice) लोग नहीं करते, परमात्मा स्वयं करता है। ऐसा, प्रभु परमात्मा द्वारा स्वीकृत पंच करोड़ों में कोई विरला ही होता है, जिसके मन में परमात्मा की याद निरन्तर टिकी रहती है।[२]

जो मनुष्य परमात्मा के नाम के श्रवण, मनन आदि का निरंतर अभ्यास करते हैं, जिनकी सुरत अथवा चेतना सदा परमात्मा में जुड़ी रहती है अथवा ऐसे व्यक्ति जो परमात्मा को हाज़िर-नाज़िर जानकर अपना जीवन उसके हुक्म के अनुसार व्यतीत करते हैं, उन के लिए सोलहवीं पउड़ी में 'पंच' शब्द का प्रयोग किया गया है। पंच को गुरुवाणी में गुरमुख भी कहा गया है। गुरमुख वह व्यक्ति है जो गुरु से कभी विमुख नहीं

---

१. इहु मनु करमा, इहु मनु धरमा।।
इहु मनु पंच ततु ते जनमा।। आसा, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४१५

२. निसि दिनु माइआ करने प्रानी डोलत नीत।।
कोटन मै नानक कोऊ नाराइनु जिह चीति।। सलोक, महला ९, वही, पृष्ठ १४२७

पंच परवाण[१], पंच परधानु[२]।।
पंचे पावहि, दरगहि[३] मानु[४]।।
पंचे सोहहि[५], दरि राजानु[६]।।
पंचा का, गुरु एकु धिआनु।।

होता— सदा गुरु के सम्मुख रहता है।[७] ऐसा श्रेष्ठ व्यक्ति अपने मन के पीछे न लगकर गुरु द्वारा दी गयी शिक्षा-दीक्षा के अनुसार अपना जीवन बिताता है।

पंच संसार के प्रपंच की वास्तविकता को जान कर इसे मात्र भ्रम में डालने वाली मनमोहक ठगोरी अथवा धोखे की टट्टी समझता है और इसके पीछे छिपे हुए केवल एक, सत्य-स्वरूप वाहिगुरु में अपना ध्यान टिकाये रखता है।[८]]

पंच (अर्थात् जिनकी धुन अथवा लगन परमात्मा के नाम में लगी रहती है वे व्यक्ति) ही (परमात्मा के द्वार पर) स्वीकृत होते हैं। (परमात्मा के निरंतर सुमिरन द्वारा अर्थात् परमात्मा को सभी जगह उपस्थित जानकर जीवन बिताने के कारण उनका आचरण ऊँचा हो जाता है और उनका जीवन मानव समाज के लिए आदर्श बन जाता है। वे पलायनवादी न बनकर सदैव परोपकार में प्रवृत्त रहते हैं। अत:) वे मानव समाज में प्रधान, प्रमुख या मुखिया माने जाते हैं।

(इतना ही नहीं, प्रभु को पसंद आनेवाले) ऐसे पंच जन ईश्वर के दरबार में आदर पाते हैं।[९] वे पंच ही राज-दरबारों में शोभा देते हैं। (अर्थात् पंच ही इहलोक और परलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।)

(ऐसे व्यक्ति, इस उच्च पद पर पहुँच कर भी अहंकार नहीं करते क्योंकि) उनका ध्यान सदैव एक, अद्वितीय गुरु, परब्रह्म परमेश्वर की ओर केन्द्रित रहता है। (अर्थात् उनके सभी कार्य वाहिगुरु को साक्षी मान कर किये जाते हैं।)

---

१. स्वीकृत। २. प्रमुख। ३. परमात्मा के दरबार में। ४. आदर-सत्कार। ५. शोभा देते हैं। ६. राजन्य, राजाओं के।

७. गुरमुखि सनमुखु मनमुखि वेमुखीआ।। माझ, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३१

८. पंचमि पंच प्रधान ते जिह जानिओ परपंचु।।
कुसम बास बहु रंगु घणो सभ मिथिआ बलबंचु।। थिती गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ २९७

९. साहिब भावै सो परवाणु।।
सो सेवकु दरगह पावै माणु।। धनासरी, महला १, वही, पृष्ठ ६६१

जे को कहै, करै वीचारु॥
करते कै करणै[१], नाही सुमारु[२]॥
धौलु[३] धरमु[४], दइआ का पूतु[५]॥
संतोखु[६], थापि रखिआ जिनि सूति[७]॥
जे को बुझै[८], होवै सचिआरु॥
धवलै उपरि, केता भारु॥
धरती होरु, परै होरु होरु॥

यदि कोई मनुष्य (हरि-भक्ति या नाम-सुमिरन की उपेक्षा करके सृष्टि तथा करतार प्रभु का) वर्णन करने लगे तो उसे चाहिए कि ऐसा करने से पहले वह कुछ सोच-विचार कर ले। (उसे मालूम हो जायेगा कि परमात्मा का तो क्या) उस की रची हुई सृष्टि का (भी) कोई अंदाज़ा नहीं है। (अर्थात् परमात्मा की रचना का ही कोई अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता; परमात्मा का अपना अन्दाज़ा कोई क्या लगायेगा!)

(परमात्मा की सृष्टि का वर्णन करनेवाले कुछ लोगों का ऐसा मत है कि हमारी पृथ्वी एक बैल के सींगों पर टिकी हुई है। इस निर्मूल भ्रम का निवारण करते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं कि वास्तव में) परमात्मा की दया से उत्पन्न हुआ धर्म (अर्थात् ईवरीय नियम अथवा विधान) ही तथाकथित धवल (बैल) है जिसने सन्तोष (अर्थात् संतुलन या साम्यावस्था) रूपी सूत्र अथवा अनुशासन में (पिरो कर) हरेक पदार्थ एवं शक्ति को अपने-अपने कर्त्तव्य में तथा अपने-अपने स्थान पर) टिका रखा है।

यदि कोई सत्य का खोजी अथवा सत्य-जानने का अभिलाषी सज्जन हो तो वह (उन लोगों से, जो यह कहते हैं कि हमारी धरती एक बैल के सींगों पर टिकी हुई है) पूछे अथवा जानने की कोशिश करे कि (यदि वास्तव में ऐसा ही है जैसा वे कहते हैं तो) उस बैल पर कितना अधिक बोझ है? क्योंकि सृष्टि में अकेली हमारी धरती ही नहीं है। इस)

धरती से परे और धरती है और उस धरती से परे और-और धरतियाँ भी हैं। (अर्थात् सृष्टि में असंख्य धरतियाँ हैं। तो क्या उन सभी धरतियों को भी वह बैल ही

१. रचना का। २. शुमार, अंदाज़ा। ३. पृथवी को आश्रय देनेवाला कल्पित बैल। ४. नियम, मर्यादा। ५. पुत्र। ६. संतुलन, साम्यावस्था। ७. सूत्र या अनुशासन में। ८. जानने की कोशिश करे।

तिस ते भारु, तलै कवणु जोरु[१] ।।
जीअ, जाति, रंगा के नाव।।
सभना लिखिआ, वुड़ी[२] कलाम[३] ।।
एहु लेखा, लिखि जाणै कोइ[४] ।।
लेखा लिखिआ, केता होइ ।।
केता[५] ताणु[६], सुआलिहु[७] रूपु।।
केती दाति, जाणै कौणु कूतु[८] ।।
कीता पसाउ[९], एको कवाउ[१०] ।।

उठाये हुए है? यदि हाँ तो ज़रा सोचो कि) उस बैल पर इतना अधिक बोझ है तो उसके नीचे कौनसी शक्ति है? (अर्थात् वह कौनसी शक्ति है जिस के सहारे वह बैल आप खड़ा है? और, यदि यह कहा जाये कि वह बैल एक और धरती पर खड़ा है और उस धरती को एक और बैल उठाये हुए है तो फिर इस तरह धरतियों और बैलों की लम्बी श्रृंखला बन जाएगी। अब प्रश्न उठता है कि सबसे अंतिम बैल किसके सहारे खड़ा है?)

(केवल यही नहीं,) सृष्टि में कई जातियों, रंगों तथा नामों वाले जीव जन्तु भी हैं। उन सबको सदा चलती हुई ईश्वरीय लेखनी ने लिखा है (अर्थात् चित्रित किया है, बनाया है। अतएव परमात्मा आप ही उन सब को बनाता है और उन सबके हिसाब-किताब को वह आप ही जानता है)।

(यदि परमात्मा के अतिरिक्त) कोई यह सारा विवरण लिख सकता हो (तो इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि उस व्यक्ति द्वारा) लिखा जानेवाला वह लेखा या विवरण कितना (बड़ा) होगा?

(यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि) परमात्मा का बल कितना है? उसका (बनाया हुआ) सौंदर्य कितना है, रूप (या आकार) कितना है? उसके दिये हुए पदार्थ कितने हैं? इसका अन्दाजा कौन लगा सकता है? (अर्थात् परमात्मा के बल, सौंदर्य और उस द्वारा दिए हुए पदार्थों आदि का कोई भी अन्दाज़ा नहीं लगा सकता। उसका लेखा-जोखा तो कोई क्या करेगा!)

(ज़रा सोचो कि वह परमात्मा कितना महान् है जिसके) एक ही वाक्, (शब्द, स्फुरण अथवा हुक्म) ने (सृष्टि का) सारा प्रसार कर दिया। उस (एक वाक्) से रचना

१. ज़ोर, शक्ति, आसरा। २. सदा चलती हुई। ३. कलम, लेखनी। ४. कोई । ५. कितना। ६. बल। ७. सुन्दर। ८. अनुमान, अन्दाज़ा। ९. फैलाव। १०. शब्द, वाक्।

तिस ते होए, लख दरीआउ[१]।।
कुदरति[२] कवण, कहा[३] वीचारु।।
वारिआ न जावा, एक वार।।
जो तुधु भावै[४], साई[५] भली कार[६]।।
तू सदा सलामति[७], निरंकार[८]।। १६।।

के लाखों प्रवाह चल पड़े।[९]

(आत्मविभोर होकर श्री गुरु जी अति विनम्र भाव से कह उठते हैं–) हे प्रभु! मेरी क्या बिसात (अर्थात् मुझ में इतनी सामर्थ्य कहाँ) कि मैं (आपकी शक्ति और विविध रंगों एवं रूपों वाली रचना का पूरा) विचार कर सकूँ। मैं तो आप पर एक बार सदक़ा या निछावर होने के योग्य भी नहीं हूँ। (अर्थात् आप की रचना अत्यन्त विस्मयकारी है; उसका पूरा या सही बयान नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार श्री गुरु जी हमें परब्रह्म परमात्मा तथा उसकी रचना की विशालता और बहुविधता का विश्वास दृढ़ कराते हैं, ताकि हमें इस रचना की तुलना में अपने अस्तित्व की तुच्छता का एहसास हो जाये और हम अपने अहं अथवा अपनी सामर्थ्य आदि के बारे में किसी प्रकार के भ्रम में फँस कर आत्म-विकास की राह से भटक न जायें।

इसलिए हमें, अहंकार का पूर्ण त्याग करके, प्रभु चरणों में आत्मसमर्पण करने का उपदेश देते हुए, श्री गुरु जी, परमात्मा को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं–)

(हे प्रभु!) जो आप को अच्छा लगे वही काम बढ़िया है, अच्छा है। (इसलिए करने योग्य है। अर्थात् हमें वे काम ही करने चाहिए जिनके करने से हमें परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो सके। अत: हमें अपनी रज़ा छोड़ कर, परमात्मा की रज़ा में राज़ी रहना चाहिए।)

(प्रकृति और सारी सृष्टि परिवर्तनशील है और नश्वर है परन्तु) हे निराकार वाहिगुरु केवल आप ही सदा सलामत अथवा बरक़रार रहनेवाले हो।। १६।।

---

१. नदियाँ, प्रवाह। २. हैसियत, बिसात। ३. कहूँ। ४. अच्छा लगे, पसन्द आये। ५. वही। ६. क्रिया या कार्य अच्छा है। ७. क़ायम, अटल। ८. निराकार, आकार-रहित।

९. खंड दीप सभि लोआ।।
एक कवावै ते सभि होआ।। मारू, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १००३

असंख[1] जप, असंख भाउ[2]।।
असंख पूजा, असंख तप ताउ[3]।।
असंख गरंथ, मुखि[4] वेद पाठ।।
असंख जोग[5], मनि रहहि उदास[6]।।
असंख भगत, गुण गिआन वीचार।।
असंख सती[7], असंख दातार।।

[परमात्मा के नाम को सुनने, मानने और प्रेम-पूर्वक अपने मन में बसा कर, प्रभु के हुक्म के अनुसार जीवन बितानेवाले व्यक्ति को, पिछली पउड़ी में 'पंच' कहा गया है। ऐसा व्यक्ति सब जगह और सब में परमात्मा की ज्योति की झलक देखता है। उसकी दृष्टि में सारी सृष्टि वाहिगुरु की लीला अथवा खेल है जिसमें विभिन्न प्रकार के पदार्थ और जीव दैवी-विधान की डोरी में बंधे हुए अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। श्री गुरु जी सृष्टि की विशालता और विविधता का निरूपण करके इसके रचयिता, कर्त्ता पुरुष वाहिगुरु की विराट्ता का हमें एहसास कराते हुए फ़रमाते हैं—]

(हे प्रभु! आप द्वारा रची, सृष्टि में) अनगिनत (प्रकार के) जप (किये जा रहे हैं। अर्थात् अनगिनत लोग अनगिनत प्रकार के जप कर रहे) हैं। असंख्य ही भाव (भावनाएँ अथवा आशय) हैं (जिन्हें मन में रख कर ये असंख्य जप आदि किये जा रहे हैं। इसका भाव यह है कि अनगिनत लोग, भिन्न-भिन्न ढंगों और भावनाओं से परमात्मा को याद करते हैं।) अनगिनत तरह की पूजा (की जा रही) है और असंख्य तरह के तप (साधे जा रहे) हैं (अर्थात् असंख्य ही लोग परमात्मा की पूजा करते है; तप-साधना करने वाले भी अनगिनत हैं)।

वेदों तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों का मुँह द्वारा (मौखिक अथवा ज़बानी) पाठ करने वाले भी बेशुमार हैं। योग-साधना करने वाले, योगी लोग भी असंख्य हैं जो मन ही मन इस असार संसार से उदासीन, विरक्त या तटस्थ रहते हैं।

बेशुमार हैं आपके भक्त जन जो आपका गुण-गान करते हैं और तत्त्व-ज्ञान संबंधी (अथवा दार्शनिक चिंतन और) विचार करते रहते हैं।

सत् को धारण करनेवाले अथवा सदाचरण-रत रहनेवाले भी असंख्य हैं और दानी लोग भी अनगिनत हैं।

---

१. असंख्य, अनगिनत। २. भाव, भावना, आशय। ३. तप-ताप, तपस्या करना। ४. मुँह द्वारा, ज़बानी ५. योग-साधना करने वाले। ६. उन्मन, उदासीन। ७. सत्याचरण-रत।

असंख सूर[१], मुह भख[२] सार[३]॥
असंख मोनि[४], लिव लाइ तार[५]॥
कुदरति[६] कवण, कहा[७] वीचारु॥
वारिआ न जावा, एक वार॥
जो तुधु भावै[८], साई[९] भली कार[१०]॥

शूरवीर योधे भी असंख्य हैं जो अपने मुँहों पर शस्त्रों की चोटें सहन करते हैं (अर्थात् शत्रुओं के सम्मुख हो कर उनसे लोहा लेते हैं; अपनी जान की चिन्ता किये बिना, निर्भीकता से रण में जूझते हैं)।

(संसार में) अनगितन ही मौनी साधु हैं जो (चुप साधने को ही मुक्ति का साधन समझकर) निरन्तर मौन-समाधि लगाये रहते हैं।

(इस तरह कुछ सात्त्विक और राजसिक वृत्ति वाले लोगों का वर्णन करके श्री गुरु जी आत्मविभोर होकर अति विनम्र भाव से कह उठते हैं—)

हे प्रभु! मेरी क्या बिसात (अर्थात् मुझ में इतनी सामर्थ्य कहाँ) कि मैं (आपकी शक्ति और विविध रंगों एवं रूपों वाली रचना का पूरा) विचार कर सकूँ। मैं तो आप पर एक बार सदक़ा या निछावर होने के योग्य भी नहीं हूँ। (अर्थात् आप की रचना अत्यन्त विस्मयकारी है; उसका पूरा या सही बयान नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार श्री गुरु जी हमें परब्रह्म परमात्मा तथा उसकी रचना की विशालता और बहुविधता का विश्वास दृढ़, कराते हैं, ताकि हमें इस रचना की तुलना में अपने अस्तित्व की तुच्छता का एहसास हो जाये और हम अपने अहं अथवा अपनी सामर्थ्य आदि के बारे में किसी प्रकार के भ्रम में फँस कर आत्म-विकास की राह से भटक न जायें।

इसलिए हमें, अहंकार का पूर्ण त्याग करके, प्रभु चरणों में आत्मसमर्पण करने का उपदेश देते हुए, श्री गुरु जी, परमात्मा को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

(हे प्रभु!) जो आप को अच्छा लगे वही काम बढ़िया है, अच्छा है (और इसलिए करने योग्य है। अर्थात्, हमें वे काम ही करने चाहिए जिनके करने से परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो सके। अतः हमें अपनी रज़ा छोड़ कर, परमात्मा की रज़ा में राज़ी रहना चाहिए)।

---

१. सूरमा, योद्धा। २. खाने वाले। ३. लोहा; शस्त्र-अस्त्र। ४. मुनि; मौनी। ५. निरन्तर समाधि लगानेवाले। ६. हैसियत, बिसात। ७. कहूँ। ८. अच्छा लगे, पसन्द आये। ९. वही। १०. क्रिया या कार्य अच्छा है।

तू सदा सलामति[१], निरंकार[२]।। १७।।

(प्रकृति और सारी सृष्टि परिवर्तनशील और नश्वर है परन्तु) हे निराकार वाहिगुरु केवल आप ही सदा सलामत अथवा बरकरार रहनेवाले हो।। १७।।

[परमात्मा की विशाल एवं विविधरूपा रचना में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों वाले जीव हैं इस पउड़ी में श्री गुरु जी ने कुछ सात्त्विक और राजसिक वृत्ति वाले जीवों का वर्णन किया है।

'सत्त्व', 'रज' और 'तम' प्रकृति के तीन अवयव या घटक माने गये हैं। 'सत्त्व' का अर्थ, 'प्रकाश' अथवा 'ज्ञान' है। इसलिए सत्त्वगुण या सतोगुण नेकी आदि अच्छे कर्मों की ओर प्रवृत्त करनेवाला है। 'रज' का अर्थ 'शक्ति', 'गति' अथवा 'क्रिया' है। अत: रजगुण या रजोगुण जीवधारियों में भोग-विलास (शारीरिक या इंद्रियजन्य सुखों का अधिक भोग) तथा बल, वैभव आदि के प्रदर्शन की प्रवृत्ति पैदा करता है। 'तम' का अर्थ, 'अन्धकार' या 'जड़ता' है और तमगुण या तमोगुण अज्ञान, भ्रम, आलस्य, क्रोध आदि का कारण बनता है। जिस प्रकार तीन तागों या लड़ों (strands) से रस्सी बटी जाती है, उसी प्रकार प्रकृति के ये तीन गुण भिन्न-भिन्न अनुपातों, अथवा कम-अधिक मात्राओं, में मिलकर भिन्न-भिन्न गुणों वाले पदार्थ और जीवधारी पैदा करते हैं। इन गुणों में से जिस गुण की मात्रा अधिक होती है उसी के अनुसार किसी जीवधारी आदि का स्वभाव बनता है।

त्रिगुणी माया के प्रभाव में सारा संसार अंधा हुआ पड़ा है क्योंकि माया के मोह का ग़ुबार चहुँ ओर छाया हुआ है।[३] इस प्रकार तीनों गुणों के कारण ग़ाफ़िल हुआ जीव माया के मोह में सोया-सोया ही अपनी सारी उम्र बिता देता है।[४] इस त्रिगुणी संसार से हित अथवा प्रेम रखने के कारण जीव जनमते मरते रहते हैं[५]; नरक-स्वर्ग के चक्कर में पड़े रहते हैं।[६] केवल आम जीव ही इन तीन गुणों के प्रभाव में नहीं हैं, परमात्मा ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी इन तीन गुणों के धंधे में डाल रखा है।[७] जिन विरले गुरुपरयाण अथवा गुरुमुख सज्जनों को आत्मिक जीवन की समझ आ गयी है, उनका कहना है कि केवल परमात्मा के नाम में लीन होकर ही माया के तीन गुणों से बचा जा सकता है।[८]]

१. क़ायम, अटल। २. निराकार, आकार-रहित।
३. त्रै गुण बिखिआ अंधु है माइआ मोह गुबार। सिरीरागु, महला ३, वही, पृष्ठ ३०
४. तिही गुणी संसारु भ्रमि सुता, सुतिआ रैणि विहाणी। रामकली, महला ३, अनंदु, वही, पृष्ठ ९२०
५. जनमि मरै त्रैगुण हितकारु। गउड़ी, महला १, वही, पृष्ठ १५४
६. तिहु गुण महि वरतै संसारा।।
नरक सुरग फिरि फिरि अउतारा।। आसा, महला ५, वही, पृष्ठ ३८९
७. ब्रहमा बिसनु महेसु त्रै गुण सिरि धंधै लाइआ।। गूज की वार, महला ३, वही, पृष्ठ ५०९
८. राम नामि लगि छूटीऐ भाई पूछहु गिआनीआ जाइ।। सोरठि, महला ३, पृष्ठ ६०३

असंख मूरख, अंध घोर[१]।।
असंख चोर, हरामखोर।।
असंख अमर[२], करि जाहि जोर[३]।।
असंख गलवढ[४], हतिआ कमाहि।।
असंख पापी, पापु करि जाहि।।
असंख कूड़िआर[५], कूड़े[६] फिराहि।।
असंख मलेछ[७], मलु भखि खाहि[८]।।

[पिछली पउड़ी में कुछ सात्त्विक और राजसिक प्रवृत्तिवाले लोगों का वर्णन किया गया है। परमात्मा की रचना की विशालता और विविधता का वर्णन जारी रखते हुए इस पउड़ी में श्री गुरु जी कुछ तामसिक वृत्ति वाले जीवों का वर्णन करते हैं–]

सृष्टि में असंख्य ही मूर्ख तथा घोर-अन्ध, (अर्थात् महा अज्ञानी अथवा हद से ज़्यादा बेवकूफ़) लोग हैं।

अनगिनत ही चोर हैं (जो चोरी, डकैती करके दूसरों की सम्पत्ति का हरण करते हैं। इस तरह न्याय और धर्म-विरुद्ध ढंगों से धन कमा कर, बिना प्रतिफल दिये, मुफ़्त का माल हड़प जाने वाले) हरामख़ोर लोग भी असंख्य हैं।

असंख्य ही शासक (असहाय, निरीह एवं निर्दोष जनता पर) अत्याचार करके इस लोक से कूच कर जाते हैं।

अनगिनत ही दूसरों का गला काटनेवाले (दूसरों का खून चूसनेवाले, निर्दय) लोग हैं जो हत्या (का पाप) कमाते हैं।

असंख्य ही अन्य पापी जीव पाप कमा कमाकर (अर्थात् पाप-कर्म कर करके, अन्त इस संसार से चले) जाते हैं।

मिथ्याचारी (झूठ बोलने और झूठा व्यवहार करने वाले) लोग भी बेशुमार हैं जो झूठ में ही व्यस्त रहते हैं (और अपना सारा जीवन झूठ में ही व्यतीत कर देते हैं। वे झूठ के सहारे जीते हैं। उनका हरेक काम झूठ, छल-कपट एवं ठगी पर आधारित होता है)।

असंख्य ही मलीन बुद्धि वाले लोग हैं जो (गंद बकते हैं और) गंद ही खाते हैं (अर्थात् अनगिनत ही ऐसे लोग हैं जो गंदी बातों अथवा गंदे विचारों को पसंद करते हैं और न खाने योग्य पदार्थ खाते हैं)।

---

१. महा अज्ञानी २. शासक, हाकिम। ३. अत्याचार, जुल्म। ४. हत्यारे, निर्दयी। ५. असत्यवादी, मिथ्याचारी। ६. झूठ में। ७. भ्रष्ट अथवा मलीन-बुद्धि वाले। ८. खाते हैं।

असंख निंदक[१], सिरि करहि भारु॥
नानकु नीचु, कहै वीचारु॥
वारिआ न जावा, एक वार॥
जो तुधु भावै[२], साई[३] भली कार[४]॥
तू सदा सलामति[५], निरंकार[६] ॥१८॥

अनगिनत ही निन्दा या बदगोई करने वाले लोग हैं जो (दूसरों की बुराइयाँ करके यहाँ से) अपने सिर पर (निन्दा रूपी पाप करने का) बोझ उठा कर ले जाते हैं।

(इस प्रकार कुछ नीच-वृत्ति लोगों के बारे में विचार करके श्री गुरु जी तनिक रुककर अति विनम्र भाव से कह उठते हैं, हे प्रभु!)

नीच अथवा दीन नानक यह विचार कहता है।[७] हे प्रभु! मैं तो आप पर एक बार सदक़ा या निछावर होने के योग्य भी नहीं हूँ। (अर्थात् मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं आप की विविध रंगों एवं रूपोंवाली, अत्यन्त विस्मयकारी रचना का पूरा या सही बयान कर सकूँ।

इसलिए हमें, अहंकार का पूर्ण त्याग करके, प्रभु चरणों में आत्मसमर्पण करने का उपदेश देते हुए, श्री गुरु जी, परमात्मा को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं, हे प्रभु!) जो आप को अच्छा लगे वही काम बढ़िया है, अच्छा है (और इसलिए करने योग्य है। अर्थात्, हमें वे काम ही करने चाहिए जिनके करने से परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो सके। अतः हमें अपनी रज़ा छोड़ कर, परमात्मा की रज़ा में राज़ी रहना चाहिए)।

(प्रकृति और सारी सृष्टि परिवर्तनशील है और नश्वर है परन्तु) हे निराकार वाहिगुरु केवल आप ही सदा सलामत अथवा बरक़रार रहने वाले हो।। १८।।

---

१. बदगोई करने वाले। २. अच्छा लगे, पसन्द आये। ३. वही। ४. क्रिया या कार्य अच्छा है। ५. क़ायम, अटल। ६. निराकार, आकार-रहित।

७. इस पउड़ी में नीच मनोवृत्ति वाले लोगों का वर्णन किया गया है। इसे पढ़कर कोई यह न समझ बैठे कि गुरु नानक साहिब अपने आपको अन्य लोगों से ऊँचा समझकर उन से घृणा करते थे। अतएव वे यहाँ अपने लिए भी 'नीच' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह उनकी विनम्रता और निरहंकारिता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। गुरुवाणी में अन्य स्थलों पर भी उनकी ऐसी भावना के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं, जैसे-

भाइ मिलै भावै भइ कारु ॥नानकु नीचु कहै बीचारु। आसा, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४१३

नानकु नीचु कहै बीचारु॥ धाणक रूपि रहा करतार॥ सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ २४

नानकु नीचु भिखिआ दरि जाचै, मै दीजै नामु वडाई हे॥ मारू सोलहे, महला १, वही, पृष्ठ १०२१

असंख नाव[१], असंख थाव[२]।।
अगंम[३], अगंम, असंख लोअ[४]।।
असंख कहहि, सिरि[५] भारु होइ[६]।।

[(इस पउड़ी में भी कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु की रचना की विविधता का वर्णन जारी रखते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—)]

(परमात्मा के) अनगिनत अथवा बेशुमार नाम हैं (परमात्मा के नाम उसके गुणों के आधार पर रखे गये हैं। उसके गुण असंख्य हैं इसलिए उसके नाम भी असंख्य हैं। असंख्य ही लोगों ने अपनी-अपनी भावना अथवा रुचि के अनुसार परमात्मा के नाम रखे हैं अतः उसके नामों की कोई गिनती नहीं हो सकती)। परमात्मा के स्थान भी (जहाँ वह वास करता है) असंख्य हैं। (सृष्टि में जितने स्थान हैं उनकी गिनती नहीं की जा सकती। परमात्मा सर्वव्यापक है सब स्थानों पर रहनेवाला है। अतः परमात्मा के कितने वास-स्थान हैं उनकी गिनती भी संभव नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि परमात्मा द्वारा बनाये जीवों तथा पदार्थों के अनगिनत नाम हैं जिनसे उनका बोध होता है और असंख्य ही स्थान हैं जहाँ वे पाये जाते हैं या रहते हैं।)

(परमात्मा द्वारा रची सृष्टि में) असंख्य ही लोक हैं[७] जो मनुष्य (के शरीर, मन, तथा बुद्धि) की पहुँच के परे हैं (अर्थात् न तो उनकी कल्पना की जा सकती है और न ही वहाँ जाया जा सकता है)। जो लोग (इस विषय में कर्त्ता पुरुष और उस द्वारा रची गई) सृष्टि का वर्णन करते समय असंख्य कहते हैं (अर्थात् असंख्य शब्द का प्रयोग करते हैं वे भी अपने भाव को पूर्णतया प्रकट करने में असफल रहते हैं। साथ ही, ऐसे लोग अवर्ण्य का वर्णन करने के दोष के कारण) अपने सिर पर बोझ उठाते हैं। (वे ग़लती करते हैं। क्योंकि सृष्टि का वर्णन करने लिए असंख्य शब्द का प्रयोग भी अपर्याप्त है; नाकाफ़ी है। इसका भाव यह है कि परमात्मा और उसके द्वारा रची हुई सृष्टि का वर्णन शब्दों द्वारा करना सम्भव नहीं हैं।

१. नाम। २. स्थान। ३. अगम्य, पहुँच के बाहर। ४. लोक, भुवन। ५. सिर पर। ६. बोझ पड़ता है।
७. लोक या भुवन का अर्थ है, 'ब्रह्माण्ड का भाग'। भारतवर्ष में अनेक दृष्टियों से, कई प्रकार के लोक माने गये हैं और उनकी अलग-अलग संख्याएँ बतायी गयी हैं। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से केवल दो ही लोक माने जाते हैं— इहलोक और परलोक।

वेदों में, अनेक स्थलों पर, तीन लोकों का उल्लेख मिलता है। परन्तु उनके नाम और स्थान भिन्न-भिन्न दिये गये हैं। आम तौर पर धरती, स्वर्ग और पाताल नाम के तीन लोक माने जाते हैं। पुराणों के अनुसार इन लोकों की संख्या चौदह मानी गयी है जिनमें से सात, धरती सहित, ऊपर और सात धरती के नीचे हैं। सामी (semitic) विचारधारा में भी चौदह तबकों का वर्णन पाया जाता है।

श्री गुरु नानक साहिब के अनुसार, लोकों की गिनती नहीं की जा सकती; वे बेशुमार हैं, उनकी गिनती मनुष्य की बुद्धि की पहुँच से परे है।

अखरी[१] नामु, अखरी सालाह[२]।।
अखरी, गिआनु गीत गुण गाह[३]।।
अखरी, लिखणु बोलणु बाणि।।
अखरा सिरि, संजोगु[४] विखाणि[५] ।।
जिनि[६] एहि लिखे, तिसु सिरि नाहि।।
जिव[७] फुरमाए, तिव तिव पाहि[८]।।
जेता[९] कीता, तेता[१०] नाउ।।

परन्तु मनुष्य भी क्या करें। वे अवश हैं। अपने भावों को प्रकट करने के लिए शब्दों का ही तो एक-मात्र माध्यम है जिसकी सहायता उन्हें लेनी ही पड़ती है। इसीलिए)

(परमात्मा का) नाम अक्षरों (अथवा भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों) द्वारा लिया जाता है, और अक्षरों (अथवा शब्दों) द्वारा ही (परमात्मा की) स्तुति की जाती है। अक्षरों द्वारा (अर्थात् शब्दों के माध्यम से) ही (हर प्रकार का) ज्ञान प्राप्त किया जाता है। हरि के गुणों का गायन, चिन्तन, मनन आदि भी अक्षरों द्वारा ही सम्भव है।

(किसी) भाषा को लिखना और बोलना (अर्थात् विचारों का आदान-प्रदान) अक्षरों (अथवा शब्दों की सहायता) द्वारा ही सम्भव है। अक्षरों द्वारा ही (जीवों के) संयोग, कर्मफल अथवा भाग्य का वर्णन किया जाता है[११]।

(परन्तु) जिस प्रभु ने जीवों के मस्तक पर ये (कर्मफल अथवा भाग्य के अक्षर) लिखे हैं वह स्वयं इन से स्वतन्त्र है।[१२] (इसका भाव यह है कि परमात्मा अलेख है। वह किसी प्रकार के कर्मफल के अधीन नहीं है। वह स्वयं सबका कर्ता और भाग्य-विधाता है; वह आप ही सबका नियन्ता है।)

प्रभु-परमात्मा जैसी-जैसी आज्ञा देता है जीव वैसा ही पाते हैं (अर्थात् सभी जीवों को वाहिगुरु के आदेश के अनुसार ही अपने-अपने भाग्य में लिखे फल भोगने पड़ते हैं)।

हरि ने जितना (भी यह जगत्) उत्पन्न किया है वह सारे का सारा (ही उसकी, अर्थात् अपने कर्त्ता की, ओर इशारा करने या उसका परिचय देने के कारण) उसका नाम है। (इसका भाव यह है कि परमात्मा की बनायी हुई सृष्टि में जो कुछ भी हम

१. अक्षरों (अर्थात् शब्दों) द्वारा। २. स्तुति। ३. अवगाहन। ४. कर्मफल ५. बखान, वर्णन। ६. जिसने। ७. जैसे। ८. पाते है। ९. जितना। १०. उतना। ११. प्रत्येक जीव का भाग्य भी अति सूक्ष्म, दैवी अक्षरों में लिखा जाता है।

१२. निरभउ सो सिरि नाही लेखा।।
आपि अलेखु कुदरति है देखा।। मारू, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १०४२

विणु नावै[1], नाही को थाउ[2] ॥
कुदरति[3] कवण, कहा[4] वीचारु॥
वारिआ न जावा, एक वार॥
जो तुधु भावै[5], साई[6] भली कार[7]॥
तू सदा सलामति[8], निरंकार[9]॥ १९॥

देखते हैं उसके परोक्ष में परमात्मा स्वयं अव्यक्त तत्त्व (noumenon) के रूप में मौजूद है। जो कुछ भी हम देखते हैं, वह अपने कर्त्ता, परमात्मा के अस्तित्व की ओर इशारा करता है। अत: यह दृश्यमान संसार अपने अदृष्ट कर्त्ता का परिचायक अथवा ज़ुहूर (manifestation) है।) सारी सृष्टि में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ परमात्मा विद्यमान न हो। (कर्ता पुरुष, परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। अत: कोई भी स्थान उसकी उपस्थिति से रहित नहीं है। इसका भाव यह है कि परमात्मा की उपस्थिति किसी एक स्थान तक सीमित नहीं है। इसीलिए परमात्मा को सब जगह सदैव हाज़िर-नाज़िर जानकर जीवन बिताना चाहिए।

आत्मविभोर होकर श्री गुरु जी अति विनम्र भाव से कह उठते हैं—) हे प्रभु! मेरी क्या बिसात (अर्थात् मुझ में इतनी सामर्थ्य कहाँ) कि मैं (आपकी शक्ति और विविध रंगों एवं रूपों वाली रचना का पूरा) विचार कर सकूँ। मैं तो आप पर एक बार सदक़ा या निछावर होने के योग्य भी नहीं हूँ। (अर्थात् आप की रचना अत्यन्त विस्मयकारी है; उसका पूरा या सही बयान नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार श्री गुरु जी हमें परब्रह्म परमात्मा तथा उसकी रचना की विशालता और बहुविधता का विश्वास दृढ़, कराते हैं, ताकि हमें इस रचना की तुलना में अपने अस्तित्व की तुच्छता का एहसास हो जाये और हम अपने अहं अथवा अपनी सामर्थ्य आदि के बारे में किसी प्रकार के भ्रम में फँस कर आत्म-विकास की राह से भटक न जायें।

इसलिए हमें, अहंकार का पूर्ण त्याग करके, प्रभु चरणों में आत्मसमर्पण करने का उपदेश देते हुए, श्री गुरु जी, परमात्मा को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं–

हे प्रभु!) जो आप को अच्छा लगे वही काम बढ़िया है, अच्छा है (और इसलिए करने योग्य है। अर्थात्, हमें वे काम ही करने चाहिए जिनके करने से परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो सके। अत: हमें अपनी रज़ा छोड़ कर, परमात्मा की रज़ा में राज़ी रहना चाहिए।

प्रकृति और सारी सृष्टि परिवर्तनशील है और नश्वर है परन्तु) हे निराकार वाहिगुरु केवल आप ही सदा सलामत अथवा बरक़रार रहने वाले हो॥ १९ ॥

१. नाम अथवा परमात्मा के बिना। २. स्थान। ३. हैसियत, बिसात। ४. कहूँ। ५. अच्छा लगे, पसन्द आये। ६. वही। ७. क्रिया या कार्य अच्छा है। ८. क़ायम, अटल। ९. निराकार, आकार-रहित।

भरीऐ हथु, पैरु तनु[१] देह[१]।।
पाणी धोतै, उतरसु खेह[२]।।
मूत[३] पलीती[४], कपड़ु[५] होइ।।
दे साबूणु, लईऐ ओहु धोइ।।
भरीऐ मति, पापा कै संगि।।
ओहु धोपै, नावै कै रंगि[६]।।

[पिछली चार पउड़ियों में परमात्मा और उसके द्वारा रची गयी सृष्टि को वर्णनातीत बताया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जब परमात्मा द्वारा रची सृष्टि का भी ठीक-ठीक अंदाजा लगाना सम्भव नहीं है तो परमात्मा का गुण-गान अथवा गुण-कथन करने का कोई लाभ नहीं। तनिक विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि मानव जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति है न कि प्रभु अथवा उस द्वारा रची हुई सृष्टि का हिसाब-किताब करना। रंग-बिरंगी, विमोहक सृष्टि तो जीव को भ्रम में डालने वाली है। इसमें उलझना कोई आध्यात्मिक साधना नहीं है। परमात्मा के नाम का सुमिरन और ध्यान करने से मनुष्य का मन साफ़ होता है; उसका आत्मिक विकास होता है और वह आध्यात्मिक-पथ पर सहज ही बढ़ता चला जाता है। अतः इस पउड़ी में श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—]

यदि शरीर का कोई अङ्ग, हाथ, पाँव (धूल, मिट्‌टी वगैरा से) भर जाये (या मिट्टी आदि से लथपथ हो जाये) तो (उस अङ्ग को) पानी के साथ धोने से (उस पर लगी हुई) वह धूल-मिट्‌टी उतर जाती है।

(यदि मल) मूत्र आदि के लग जाने से कोई कपड़ा अपवित्र या गंदा हो जाये तो उसे साबुन लगाकर धो (या साफ़ कर) लिया जाता है।

(परन्तु, यदि मनुष्य की) बुद्धि पाप-कर्मों से मलीन हो जाये तो वह (पानी आदि से नहीं,) परमात्मा के निर्मल नाम के प्रेम से धोयी जा सकती है।[७]

१. शरीर २. मिट्टी, धूल। ३. मूत्र। ४. पलीद, अपवित्र। ५. वस्त्र, पोशाक ६. प्रेम के साथ।

७. शरीर और वस्त्र आदि को पानी से धोया जा सकता है। परन्तु मन अथवा अन्तःकरण को पानी के साथ नहीं धोया जा सकता क्योंकि अन्तःकरण अति सूक्ष्म है— अन्तःकरण तक पानी की पहुँच या प्रभाव नहीं होता। साधारण-सी बात है कि किसी मलिन वस्तु को धोने के लिए, साफ़ करने वाला द्रव्य भी उस वस्तु तथा उस पर लगे मल के अनुकूल ही होना चाहिए। अतः अन्तःकरण को हरि-भजन में लीन कर देने से, परमात्मा के रंग में रंग देने से, ही निर्मल किया जा सकता है किसी अन्य द्रव्य अथवा साधन द्वारा नहीं।

पुंनी पापी, आखणु[१] नाहि।।
करि करि करणा[२], लिखि[३] लै जाहु।।
आपे बीजि, आपे ही खाहु।।
नानक, हुकमी, आवहु जाहु[४]।। २०।।

(मन को परमात्मा के नाम रूपी जल से धोकर निर्मल करने की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि) पुण्यी या पापी केवल कथन मात्र (या मात्र कहने की बात) नहीं है। (अर्थात् पुण्यशील अथवा पुण्य-कर्म करनेवाले और पापी, अर्थात् पाप कर्म करनेवाले लोग सचमुच होते हैं।[५] अब श्री गुरु जी हमें सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

(हे भाई!) तुम (अच्छे-बुरे) कर्म कर करके (संस्कारों के रूप में उनकी छाप) अपने साथ ले जाते हो और इस तरह शुभ और अशुभ कर्मों के बीज) आप ही बोकर आप ही उनके फल खाते हो।[६] (अर्थात् हरेक व्यक्ति अपने किये हुए कर्मों का हिसाब-किताब लिखकर अपने साथ ले जाता है[७] और, इसके फलस्वरूप, हरेक जीव को अपने किये हुए कर्मों का फल प्रारब्ध के रूप में आप ही भोगना पड़ता है। इसका भाव यह है कि एक जीव के कर्मों का फल किसी दूसरे को नहीं मिलता।[८] जो करता है, वही भरता है।)

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (तुम कर्म-फल भोगने के लिए) ईश्वरीय हुक्म अथवा विधान के अनुसार (जन्म लेकर संसार में) आते हो और (जीवन की अवधि समाप्त होने पर, उसी दैवी विधान के अनुसार देह त्याग कर यहाँ से) चले जाते हो (इसका भाव यह है कि अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए जीव जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं)।। २०।।

---

१. कथन, शब्द। २. जो कुछ किया गया है, करनी। ३. लिखकर। ४. आते जाते हो; जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हो।

५. जो धरमु कमावै तिसु धरम नाउ होवै, पापि कमाणै पापी जाणीऐ।।
सलोकु, महला २, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३८

६. सभु को आखै आपणा जिसु नाही सो चुणि कढीऐ।।
कीता आपो आपणा आपे ही लेखा संढीऐ।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४७३

७. **काया में स्थित चित्त ही चित्रगुप्त है। देखिये परिशिष्ट-५**

८. अहि करु करे सु अहि करु पाए, कोई न पकड़ीऐ किसै थाइ।।
आसा, महला ५, वही, पृष्ठ ४०६.

तीरथु, तपु, दइआ, दतु[1] दानु॥
जे को[2] पावै, तिल का[3] मानु॥
सुणिआ, मंनिआ, मनि कीता भाउ[4]॥
अंतरगति[5] तीरथि, मलि[6] नाउ[7]॥
सभि गुण तेरे, मै नाही कोइ॥

[पिछली पउड़ी में बताया गया है कि मनुष्य द्वारा किये गये अच्छे, बुरे कर्मों के अनुसार ही उसके अगले जन्म का भाग्य या प्रारब्ध बनता है। पापों के कारण मलिन हुए अन्तःकरण को परमात्मा के नाम के सुमिरन द्वारा ही साफ़ किया जा सकता है। इस पउड़ी में श्री गुरु जी फिर से इस बात को दृढ़ कराते हैं कि प्रभु-भक्ति के अलावा और कोई साधन अथवा कर्मकाण्ड आदि मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कारगर नहीं है। कर्म-काण्ड करने से तो यह भी सम्भव है कि किसी के मन में मान-प्रतिष्ठा एवं अहं की भावना उग्र होकर उसे सदाशय से दूर ले जाये। श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—]

तीर्थ-यात्रा (अर्थात् तीर्थों पर जाकर, पूजा, स्नान तथा दान आदि) करने, तपस्या करने, (किसी संकटग्रस्त अथवा अभागे व्यक्ति या जीव आदि पर) दया करने या दूसरों को दिये हुए दान आदि के कारण यदि कोई व्यक्ति (लोगों से) आदर-सम्मान पा भी ले तो वह आदर-सम्मान तिल-मात्र या तुच्छ ही है। (इस प्रकार प्राप्त किये हुए आदर सम्मान का कोई लाभ नहीं क्योंकि आध्यात्मिक कसौटी पर इस का मूल्य कुछ भी नहीं है।)

(इसलिए हे साधक!) तुम (किसी पार्थिव अथवा बाहरी तीर्थ की बजाय) परमात्मा का नाम सुनने और अन्तःकरण में उसके प्रति प्रेम धारण करने (की विधि) से आन्तरिक तीर्थ (अर्थात् हरि-नाम के निरंतर अभ्यास रूपी तीर्थ) पर मल मलकर स्नान करो। (अर्थात् अपनी सुरत को परमात्मा के नाम में लवलीन करके अहं रूपी मैल एवं पापों को धो डालो और अति विनम्र भाव से बिनती करो कि—)

हे प्रभु! सब गुण आप ही के (द्वारा दिए हुए) हैं (सब अच्छाइयाँ आप ही की हैं।) मुझ में कोई भी गुण (अथवा अच्छाई) नहीं है। (आप सर्वगुण-सम्पन्न हैं और मैं अवगुणी जीव हूँ)।

१. दत्त, दिया हुआ। २. यदि कोई ३. कण-मात्र, तनिक। ४. प्रेमभाव। ५. अन्तस्थ, अन्तःकरण में स्थित। ६. मलकर। ७. नहाओ, स्नान करो।

विणु गुण कीते, भगति न होइ।।
सुअसति[१], आथि[२], बाणी, बरमाउ।।
सति, सुहाणु[३], सदा मनि चाउ[४]।।
कवणु सु वेला[५], वखतु[५] कवणु, कवण थिति[६], कवणु वारु।।
कवणि सि रुती, माहु कवणु, जितु होआ आकारु।।

(हे प्रभु!) यदि आप मुझमें अपेक्षित गुण पैदा न करें तो मुझसे आप की भक्ति नहीं हो सकती। (मेरी क्या बिसात जो मैं अपनी सामर्थ्य के सहारे आपकी भक्ति कर सकूँ। अर्थात् प्रभु-परमात्मा की कृपा के बिना उसकी भक्ति संभव नहीं है। इसका भाव यह है कि परमात्मा के गुणों का गायन करने के साथ-साथ उन गुणों को धारण करना भी ज़रूरी है। यदि साधक में दैवी गुण प्रकट नहीं होते तो इसे प्रभु की भक्ति नहीं कहा जा सकता।[७])

(हे मंगल-रूप प्रभु!) तेरी जय हो! तू आप ही माया है; तू आप ही वाणी (अथवा शब्द) है (जिससे सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है); तू आप ही ब्रह्मा है (जिसे सृष्टि का रचयिता माना जाता है। इसका भाव यह है कि परमात्मा द्वारा ही माया रची और फैलायी गयी; उसी परब्रह्म द्वारा वाणी प्रकट हुई और उसी द्वारा ब्रह्माण्ड बने। अत: केवल वह आप ही सृष्टि का सर्वेसर्वा या कर्ता-धर्ता है; उसके अलावा सृष्टि का कोई और कर्ता-धर्ता नहीं है।)

(हे मंगल-रूप प्रभु!) तुम सदैव सत्य (सदा कायम रहने वाले) एवं शोभायमान अथवा सुन्दर हो तुम्हारे मन में शाश्वत आनन्द भरा रहता है। (अर्थात् परमात्मा सत्य, सुन्दर और आनन्दमय है।)

(क्योंकि परमात्मा ही सारी सृष्टि का कर्त्ता है इसलिए वह स्वयं ही जानता है कि) जब जगत साकार हुआ अथवा बना वह कौनसी वेला थी? क्या समय था? (चंद्रमास की) कौनसी तिथि थी और (सप्ताह का) कौनसा दिन था? उस समय कौनसी ऋतु थी और कौनसा महीना था?

---

१. स्वस्ति। २. माया। ३. सुन्दर। ४. उत्साह, आनन्द। ५. समय। ६. तिथि, चांद्रमास का दिन।

७. किसी वस्तु या मनुष्य के गुण अथवा विशेषताएँ जान लेने पर ही मन उसकी ओर आकर्षित होता है और उसके गुणों आदि को अपनाने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए परमात्मा की भक्ति करने के लिए उसके गुणों का कथन, श्रवण, गायन आदि करना आवश्यक है। इसका सहज साधन हरि के 'नाम' का सुमिरन है। नाम के सतत् अभ्यास द्वारा मन-दर्पण पर जमी हुई माया की काई हट जाती है, अहं और भ्रम की दीवार टूट जाती है और जीव अपने मूल, ज्योति-स्वरूप वाहिगुरु का साक्षात्कार कर लेता है। परन्तु कोई भी व्यक्ति ऐसा तभी कर सकता है जब परमात्मा स्वयं उसे ऐसा करने की तौफ़ीक़, अथवा सामर्थ्य प्रदान करे।

वेल[1] न पाईआ पंडती, जि होवै लेखु पुराणु।।
वखतु[1] न पाइओ कादीआ[2], जि लिखनि लेखु कुराणु।।
थिति वारु ना जोगी जाणै, रुति[3] माहु[4] ना कोई।।
जा करता सिरठी[5] कउ साजे, आपे जाणै सोई।।
किव करि आखा, किव सालाही, किउ वरनी किव जाणा।।

(सृष्टि की उत्पत्ति के) समय का पण्डितों को पता नहीं चल सका, नहीं तो इस विषय पर कोई पुराण का लेख प्राप्त होता (अर्थात् इस विषय पर किसी पुराण में अथवा किसी पुराण के हवाले से कुछ लिखा मिलता)। काज़ियों को भी उस वक़्त का पता न लग सका, अन्यथा वे क़ुरान के हवाले से कुछ (कोई लेख) लिख देते।

(जगत्-रचना की) तिथि या दिन (अर्थात् किस तिथि या दिन को जगत् की रचना हुई यह) कोई योगी भी नहीं जानता (अर्थात् योग-साधना करने अथवा समाधि लगानेवाले भी सृष्टि-रचना के समय के बारे में नहीं जानते)। न ही किसी को उस समय की ऋतु एवं मास का ज्ञान है। (इस का भावार्थ यह है सृष्टि-रचना किस समय हुई इसके बारे में सही जानकारी किसी को नहीं है।) वास्तव में जो कर्त्ता पुरुष सृष्टि को बनाता है वह आप ही जानता है कि इस सृष्टि की रचना कब हुई थी। (जगत् की रचना के समय आदि के विषय में किसी प्रकार की अटकलें लगाना व्यर्थ है। हम देश, काल की सीमा में बन्धे हुए सोचते है परन्तु परमात्मा, इन सीमाओं से स्वतन्त्र है। जब समय शुरू हुआ तो पहले ही सृष्टि की उत्पत्ति हो चुकी थी। अतः सृष्टि की उत्पत्ति के समय के बारे में किसी द्वारा किसी तरह भी नहीं जाना जा सकता। सब का रचयिता होने के कारण, सृष्टि की रचना से पहले केवल परमात्मा आप ही उपस्थित था। इसलिए, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सृष्टि-रचना के समय के बारे में कुछ नहीं जान सकता।)

(फिर, उसके विषय में अर्थात् परमात्मा द्वारा की गयी सृष्टि-रचना के समय आदि के बारे में) मैं कैसे कुछ कहूँ? किस तरह उस कर्त्ता-पुरुष, वाहिगुरु की स्तुति करूँ? मैं उसे कैसे जानूँ या समझूँ और कैसे उसका वर्णन करूँ?

१. समय। २. काज़ियों ने। ३. ऋतु। ४. महीना। ५. सृष्टि।

नानक, आखणि सभु को आखै, इक दू इकु[१] सिआणा[२]।।
वडा साहिबु वडी नाई[३], कीता जाका होवै।।
नानक, जे को आपौ[४] जाणै, अगै गइआ न सोहै[५]॥ २१॥

(श्री गुरु जी अपने आप को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं) हे नानक! कहने को तो हर कोई, एक से एक अधिक विद्वान् (अर्थात् हर कोई अपने आप को दूसरों से अधिक चतुर या बुद्धिमान समझ कर) परमात्मा और उसके द्वारा रची सृष्टि के बारे में) कथन करता है। (परन्तु वह ऐसा कर नहीं सकता क्योंकि परमात्मा और उसकी रचना नितान्त रहस्यमय है। इसलिए यही कहना उचित लगता है कि,)

वह स्वामी, जिसका किया हुआ (अर्थात् जिसके आदेश अथवा विधान के अनुसार) सब कुछ हो रहा है, (सचमुच ही) सबसे बड़ा है और उसकी बड़ाई अथवा महिमा भी बहुत बड़ी है।

(एक बार फिर श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! यदि कोई व्यक्ति (परमात्मा की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार न करके, अथवा परमात्मा द्वारा दी हुई समझ-सूझ के लिए उस का एहसान न मान कर, अहंकारवश अपने आपको समर्थ समझकर,) किसी काम को अपने द्वारा सिद्ध हुआ मानता है तो वह आगे (परमात्मा के द्वार पर, परमात्मा की दरगाह अथवा दरबार में) गया हुआ शोभा नहीं पाता— वहाँ स्वीकार नहीं होता। (अहंकार, अर्थात् 'मैं, मेरा' अथवा 'मैं करता हूँ' या 'मैं कर्ता हूँ' की भावना ही मनुष्य को संसार के मोहजाल में उलझाये रखती है। पंचम नानक, श्री गुरु अर्जुन देव जी ने अंहकार को जन्म-मरण का मूल एवं पापात्मा कह कर संबोधित किया है।[६] अहंकार का हरिनाम से विरोध है। इसलिए अहंकार और प्रभु का नाम दोनों ही एक स्थान पर, एक ही हृदय में, इकट्ठे नहीं रह सकते।[७] मन में अहंकार के टिके रहने पर परमात्मा की सेवा-भक्ति नहीं हो सकती। यह अहंकार ही आत्मा और परमात्मा के बीच पड़ने वाली दीवार है। प्रभु परमात्मा से मिलने के लिए इसे दूर करना ज़रूरी है। इसके दूर होने पर ही आत्मा परमात्मा में लीन हो सकती है।[८])।।२१ ।।

---

१. एक-से-एक। २. बुद्धिमान्, चालाक। ३. बड़ाई। ४. अपने आप से। ५. शोभा पाता है।

६. हे जनम मरण मूलं, अहंकारं पापातमा।।
मित्रं तजंति, सत्रं द्रिड़ंति, अनिक माया बिस्तीरनह।।
सलोक सहसक्रिती, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३५८.

७. हउमै नावै नालि विरोधु है, दुइ न वसहि इक ठाइ।। वडहंसु, महला ३, वही, पृष्ठ ५६०

८. हउमै जाई ता कंत समाई।। राग सूही, महला १, वही, पृष्ठ ७५०

पाताला पाताल[१] लख, आगासा आगास[२]।।
ओड़क[३] ओड़क भालि[४] थके, वेद कहनि इक वात।।
सहस अठारह[५] कहनि कतेबा[६], असुलू[७] इकु धातु[८]।।

[पिछली पउड़ी की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अहंकारी मनुष्य को परमात्मा के दरबार में आदर नहीं मिलता। वहाँ यह भी कहा गया है कि प्रभु की रचना के बारे में लेखा-जोखा करना ठीक नहीं है क्योंकि न तो यह मानव-जीवन का लक्ष्य है और न ही इस काम में किसी को सफलता प्राप्त हो सकती है। ऐसा लेखा-जोखा करने से कोई आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त नहीं होता। अब इस पउड़ी में श्री गुरु जी समूची सृष्टि के संदर्भ में मनुष्य की क्षुद्रता अथवा तुच्छता दर्शाने के लिए परमात्मा की बड़ाई का वर्णन करते हैं। कादिर और उसकी कुदरत, परमात्मा और उसकी रचना, की गहरी छाप मनुष्य के मन और मस्तिष्क में बैठाने के लिए करता पुरुष की विशाल रचना की विस्मयकारी झलक दिखाते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—]

(उस कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु द्वारा रची) सृष्टि में (धरती के नीचे) लाखों ही पाताल हैं और (धरती के ऊपर) लाखों आसमान हैं। (आम तौर पर सात पाताल और सात आसमान माने जाते हैं। श्री गुरु नानक देव जी के अनुसार इनकी गिनती सात तक सीमित नहीं की जा सकती।)

(आर्यों के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ) वेद भी एक ही (अर्थात् यही) बात कहते हैं कि सृष्टि का अन्तिम छोर खोजनेवाले खोजते-खोजते थक गये हैं (परन्तु उन्हें उसका कोई किनारा नहीं मिल सका। इसका भाव यह है कि जो कोई भी सृष्टि का ओर-छोर खोजने का प्रयास करता है, वह इसी परिणाम पर पहुँचता है कि सृष्टि का अन्त अलभ्य है। इसलिए उसे खोजने के सभी प्रयास व्यर्थ हैं।)

(कुछ) कतेब अथवा पुस्तकें कहती हैं (अर्थात् कुछ लेखकों का मत है) कि कुल अठारह हज़ार आलम या दुनियाँ हैं।[९] परन्तु इन सबका मूल तत्त्व अथवा कारण एक (परमात्मा) ही है। (अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही सबका मूल है। अठारह हज़ार आलम कहने का भाव भी यही है कि सृष्टि अनन्त है और उसका हिसाब-किताब अथवा लेखा-जोखा करना व्यर्थ है)।

---

१. पाताल ही पाताल २. आकाश ही आकाश ३. अन्त। ४. खोज कर। ५. अठारह हज़ार (आलम)
६. (धर्म-)पुस्तकें। ७. असल में। ८. तत्त्व, परमात्मा।
९. चंदीं हजार आलम एकल खानां।। तिलंग, नामदेव, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ७२७

लेखा होइ त लिखीऐ, लेखै होइ विणासु।।
नानक, वडा आखीऐ, आपे जाणै आपु।। २२।।

किसी चीज़ का लेखा अथवा हिसाब-किताब तभी किया और लिखा जाता है यदि उस चीज़ का हिसाब किया जाना सम्भव हो। (परन्तु अकाल पुरुष, परमात्मा द्वारा की हुई रचना की तो बात ही निराली है। इसका) हिसाब करते-करते हिसाब करनेवाले का अपना ही अन्त हो जाता है। (इसका कारण यह है कि प्रभु की सृष्टि अपार है, असीम है जबकि मनुष्य की पहुँच और जीवन सीमित हैं। अब सहज ही प्रश्न उठता है कि जिस कर्त्ता पुरुष की रचना इतनी बड़ी है, वह स्वयं कितना बड़ा होगा?

पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (हमें तो बस) परमात्मा को बड़ा ही कहना चाहिए (और किसी प्रकार के लेखे-जोखे में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि) वह कितना बड़ा है, इस रहस्य को केवल वह आप ही जानता है।। २२।।

[इस पउड़ी में कर्त्ता पुरुष, परमात्मा की बे-हिसाब सृष्टि का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि इसके लिए चाहे गिनती की कितनी ही बड़ी संख्या का प्रयोग किया जाये इसके विस्तार का अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता; उसका लेख-जोखा नहीं किया जा सकता। अपने एक अन्य शब्द में श्री गुरु जी ने परमात्मा को संबोधित करते हुए कहा है कि हे मेरे बड़े स्वामी! तू अथाह गुणों का अति गहन सागर है। कोई भी जीव नहीं जानता तेरा विस्तार कितना है।[१] परमात्मा कितना बड़ा है वह स्वयं ही जानता है। वह मनुष्य की गणन-शक्ति एवं कल्पना से बहुत ज़्यादा है।

इस विषय में कबीर साहिब फ़रमाते हैं कि यह जगत्, परमात्मा द्वारा बना हुआ एक बहुत बड़ा चित्र है। तुम इस चित्र को छोड़कर, संसार के मोह में खचित न होकर, इसे बनाने वाले चित्रकार— परमात्मा— को सदा याद रखो। यह जगत्-रूपी चित्र एक झमेला अथवा गोरखधंधा है जो मनुष्य को अपने में उलझा लेता है। अतः इसके मोह-जाल से बचने के लिए इस चित्र का ख़्याल छोड़कर अपना मन इसके, कर्त्ता, परमात्मा में जोड़े रखो।[२]]

---

१. वडे मेरे साहिबा, गहिर गंभीरा, गुणी गहीरा।।
कोइ न जाणै तेरा केता केवडु चीरा।। आसा, महला १; श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ९

२. चचा रचित चित्र है भारी।। तजि चित्रै, चेतहु चितकारी।।
चित्र बचित्र, इहै अवझेरा।। तजि चित्रै, चितु राखि चितेरा।। गउड़ी, बावन अखरी, वही, पृष्ठ ३४०

सालाही[१] सालाहि[२], एती[३] सुरति[४] न पाईआ।।
नदीआ अतै वाह[५], पवहि समुंदि[६] न जाणीअहि[७]।।
समुंद साह[८] सुलतान, गिरहा सेती[९] मालु धनु।।

[परमात्मा की विराटता को जानना या उस द्वारा रची सृष्टि का लेखा-जोखा करना मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है। प्रभु-मिलन अथवा प्रभु से एकाकार होना मानव जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परमात्मा की स्तुति, उसका गुण-कथन और उसकी कीर्ति या कीर्तन आदि सहज साधन हैं। परमात्मा की भक्ति करने से उसके निकट तो हुआ जा सकता है, उसमें समाया भी जा सकता परन्तु उसकी विशालता की थाह नहीं ली जा सकती। श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—]

उस सराहना-योग्य प्रभु की स्तुति करके किसी व्यक्ति को इतनी सूझ प्राप्त नहीं होती (इतना बोध अथवा ज्ञान नहीं होता कि वह प्रभु कितना बड़ा है। जिस प्रकार असंख्य) दरिया और नाले अथवा छोटी, बड़ी नदियाँ समुद्र में जा गिरती हैं तो फिर (वे समुद्र से भिन्न) पहचानी नहीं जा सकतीं (क्योंकि वे उसमें विलीन हो जाती हैं। नदियाँ समुद्र में मिलकर अपनी अलग पहचान खो देती हैं और उसी का रूप धारण कर लेती हैं। परन्तु समुद्र का रूप धारण कर लेने पर भी नदियाँ जान नहीं सकतीं कि समुद्र क्या है या कितना विशाल है। इसी तरह भक्त लोग स्तुति करते-करते परमात्मा में लीन होकर उसका अवगाहन तो कर सकते हैं, उसमें समाकर उससे तदाकार तो हो सकते हैं परन्तु उसकी थाह नहीं पा सकते।[१०] अतः परमात्मा या उसकी रचना का लेखा-जोखा छोड़कर उसका निरंतर ध्यान, स्मरण आदि करना, उसे अपने मन में बसा लेना, ही अपेक्षित है, क्योंकि मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने का यही एक सहज, सरल और कारगर साधन है।)

ऐसे राजा भी जो समुद्रों के भी स्वामी हों (अर्थात् जिनका राज्य समुद्रों के पार तक अथवा देश-देशान्तरों तक फैला हो) और जिनके पास पर्वतों जितनी धन-दौलत हो, वे

---

१. सराहना-योग्य (परमात्मा)। २. स्तुति करके। ३. इतनी। ४. सूझ। ५. नाले। ६. समुद्र में। ७. नहीं जाने या पहचाने जाते। ८. शाह, मालिक। ९. पर्वतों जितना।

१०. किसी वस्तु को जान वह सकता है जिसकी अपनी सत्ता उस जानी जाने वाली वस्तु से भिन्न हो। परन्तु जब साधक साध्य में विलीन हो जाता है तो उसी का रूप हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि जब ज्ञाता स्वयं ही ज्ञेय का रूप हो जाये, नदी स्वयं समुद्र का रूप धारण कर ले तब कौन जाने, किसे जाने और कैसे जाने?

कीड़ी[१] तुलि[२] न होवनी, जे तिसु मनहु न वीसरहि।। २३।।

(राजाधिराज भी) एक चींटी की बराबरी नहीं कर सकते यदि उस चींटी के मन से परमात्मा कभी नहीं भूलता। (इसका भावार्थ यह है कि छोटे-से-छोटा जीव अथवा ग़रीब-से-ग़रीब व्यक्ति भी, जो परमात्मा को सदैव याद रखता है, परमात्मा को भुला देने वाले बड़े-बड़े महाराजाओं से बेहतर है।[३]) ।। २३।।

[आदमी धन, पदार्थ आदि इकट्ठा करता है और उस पर अपना मालिकाना हक जताता है। परन्तु संसार से कूच करते समय उनमें से कुछ भी, एक कदम, उसके साथ नहीं चलता।[४] इसके मुकाबले में नाम ऐसा धन है जो सदा मनुष्य का साथ निबाहता है।[५] यही कारण है कि मनुष्य सारी सृष्टि का राज्य प्राप्त करके भी दुःखी रहता है लेकिन प्रभु का नाम जपने से सुखी हो जाता है।[६]

इसलिए जिस व्यक्ति के हृदय में परमात्मा का नाम निवास करता है, अर्थात् जिसके मन में परमात्मा के अस्तित्व का अहसास निरन्तर बना रहता है, वही सबसे बड़ा राजा है, उसे संसार की सभी निधियाँ प्राप्त होती हैं। वह संसार में विचरण करता हुआ, सभी सांसारिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करता हुआ भी माया के प्रभाव से मुक्त रहता है। परन्तु जिस व्यक्ति के मन में परमात्मा का नाम नहीं बसता, अर्थात् जो परमात्मा का सुमिरन नहीं करता, वह माया के भ्रम में उलझ कर जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।[७] अतः प्रभु-परमात्मा के नाम के मुकाबले में संसार का सारा धन-वैभव और सभी सांसारिक उपलब्धियाँ नगण्य हैं, तुच्छ हैं।]

---

१. चींटी। २. तुल्य, बराबर।

३. हे पपीलका ग्रसटे, गोबिंद सिमरण तुयं धने।। नानक अनिक बार नमो नमह ।।६३।।
सलोक सहसक्रिती, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३५९

४. हैवर गैवर रथ संबाहे, गहु करि कीने मेरे।।
जब ते होई लांमी धाई, चलहि नाही इक पैरे।। ४।। गूजरी, महला ५, वही, पृष्ठ ४९७

५. जह मात पिता सुत मीत न भाई। मन ऊहा नामु तेरै संगि सहाई।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २६४

६. सगल स्रिसटि को राजा दुखीआ।। हरि का नामु जपत होइ सुखीआ।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २६४

७. जिसु नामु रिदै, सोई वड राजा।। ....
जिसु नामु रिदै सो जीवन मुकता।।
जिसु नामु रिदै तिसु सभ ही जुगता।।
जिसु नामु रिदै तिनि नउ निधि पाई।।
नाम बिना भ्रमि आवै जाई।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११५५-५६

अंतु[१] न सिफती[२], कहणि[३] न अंतु।।
अंतु न करणै[४], देणि न अंतु।।
अंतु न वेखणि, सुणणि न अंतु।।
अंतु न जापै, किआ मनि[५] मंतु[६]।।

[जैसा पहले कई बार बताया गया है, हमारी बुद्धि और ज्ञान इन्द्रियों की पहुँच सीमित है और कर्त्ता पुरुष वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमात्मा अनन्त है। प्रभु की महिमा अकथ्य है। उसकी रचना भी बेहद है। अतः सृष्टि-कर्त्ता परमात्मा और उसकी रचना का ओर-छोर पाने के चक्कर में पड़ने का कोई लाभ नहीं। परमात्मा इतना गूढ़ एवं रहस्यमय है कि, सागर में मिलकर उसका रूप बनी नदी की तरह, उस से मिलकर तदाकार हुए साधक जन भी उसकी विशालता का अन्दाज़ा नहीं लगा सकते। इस तथ्य को हमारे मन में खूब अच्छी तरह बैठाने के लिए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं–]

(परमात्मा के) गुणों (परमात्मा की विशेषताओं या ख़ासियतों) का कोई अन्त या ओर-छोर नहीं है और न ही कोई अन्त (उन गुणों को) कहने (अर्थात् उनका वर्णन करने) का है। (परमात्मा गुणों का अक्षय भण्डार है। उसके गुणों की संख्या इतनी बड़ी है कि कथन करने से उनका अन्त नहीं मिलता। इसलिए चाहे कितना ही कथन किया जाये परमात्मा के सभी गुण कहे नहीं जा सकते।)

परमात्मा के कृत्यों, करतबों अथवा रचना का भी कोई ओर-छोर नहीं है, और न ही उसकी देन (अर्थात् उस द्वारा बनायी हुई और दी हुई वस्तुओं, बख़्शिशों आदि) की कोई सीमा है।

(अकाल पुरुष, वाहिगुरु की रचना में जो कुछ है उसको) देखने और उसके बारे में सुनने (पढ़ने आदि) की भी कोई सीमा नहीं है (अर्थात् परमात्मा द्वारा प्रदान की गयी आँखों और कानों आदि ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त किये जाने वाले ज्ञान का भी कभी अंत नहीं पाया जा सकता और न ही इन इन्द्रियों की सहायता से परमात्मा अथवा उसके गुणों की थाह पायी जा सकती है)।

परमात्मा के मन में क्या मंशा (इरादा अथवा संकल्प) है (अर्थात् उसने सृष्टि किस प्रयोजन से बनायी है, वह क्या करना चाहता है अथवा क्या करने जा रहा है) इसका भी राज़ पता नहीं चलता।

---

१. ओर-छोर, सीमा; भेद, रहस्य। २. गुण, विशेषताएँ। ३. कहने। ४. रची या बनायी हुई वस्तुएँ, रचना। ५. मन में। ६. मंत्रणा, मंशा, इरादा।

अंतु न जापै, कीता आकारु[१]॥
अंतु न जापै, पारावारु[२]॥
अंत कारणि, केते बिललाहि[३]॥
ता के[४] अंत न पाए जाहि[५]॥
एहु अंतु[६], न जाणै कोइ॥
बहुता कहीऐ, बहुता होइ॥
वडा[७] साहिबु, ऊचा थाउ[८]॥
ऊचे उपरि, ऊचा नाउ[९]॥

परमात्मा ने जो आकार अर्थात् यह (सूक्ष्म और स्थूल आकारों वाला) प्रपंच बनाया है उसका भी कोई अन्त भासित नहीं होता। (अर्थात् परमात्मा द्वारा रचे दृश्यमान संसार, अथवा भिन्न-भिन्न रूपों और आकारों वाले जीवों एवं पदार्थों आदि की थाह पाना हमारी क्षमता से बाहर है)। उसकी रचना (के विस्तार) का कोई आर-पार (ओर-छोर, सिरा या किनारा) दिखाई नहीं देता है।

परमात्मा और उसकी रचना, का अन्त पाने (उसके ओर-छोर अथवा रहस्य की जानकारी प्राप्त करने) के लिए (विद्वान, वैज्ञानिक, योगी आदि) कितने ही लोग व्याकुल रहते हैं (परन्तु उस परमात्मा का रहस्य जानने के लिए बेचैन रहनेवाले लोगों द्वारा) उस के अन्त (रहस्य) नहीं पाये जा सकते। (परमात्मा और उसकी रचना का ओरछोर जानने अथवा रहस्य पाने के सभी प्रयास व्यर्थ हैं।)

(अन्तिम निष्कर्ष यह है कि) प्रभु और उसकी रचना का अन्त (अथवा परम गूढ़ रहस्य, जिसे पाने के लिए असंख्य लोग विह्वल हो रहे हैं) कोई भी नहीं जानता। परमात्मा के विषय में जितना भी अधिक क्यों न कहा जाये, वह कहे हुए से और भी अधिक प्रतीत होने लगता है। (अर्थात् हम परमात्मा की विशालता का जितना जी चाहे अनुमान लगा लें, फिर भी, परमात्मा इतना विशाल है कि मन में "नेति, नेति" — 'उसका कहीं अंत नहीं है, अंत नहीं है'— की भावना बनी ही रहती है क्योंकि परमात्मा सानुपात्तिक स्तर — plane of relativity— से परे है। अतः यही कहना उचित प्रतीत होता है कि) वाहिगुरु अथवा परमात्मा बड़ा, विशाल अथवा विराट् है। उसका स्थान (ठिकाना अथवा पद भी) ऊँचा (अथवा श्रेष्ठ) है। उसका 'नाम' (सत्ता या अस्तित्व) ऊँचे से भी ऊँचा (अर्थात् सबसे ऊँचा) है। (इसका भाव यह है कि परमात्मा अनन्त है, उसकी महिमा अपरम्पार है।)

१. जगत-रचना। २. पारापार, दोनों किनारे। ३. व्याकुल होते हैं। ४. उस (परमात्मा) के। ५. नहीं पाये जाते हैं। ६. निष्कर्ष, निचोड़। ७. बड़ा। ८. स्थान, पद। ९. नाम, सत्ता।

एवडु[१] ऊचा, होवै कोइ।।
तिसु[२] ऊचे कउ, जाणै सोइ[३]।।
जेवडु[४] आपि, जाणै आपि आपि।।
नानक, नदरी[५] करमी[६] दाति।। २४।।

यदि कोई व्यक्ति इतना ज़्यादा ऊँचा हो (जितना परमात्मा है) तो वही उस ऊँचे (अर्थात् विराट् सत्तावाले) को जान सकता है (या उसका साक्षात्कार कर सकता है।[७] इसका भावार्थ यह है कि आत्मिक विकास के अन्तिम स्तर पर पहुँचा हुआ व्यक्ति ही परमात्मा को जान सकता है। परन्तु आत्मिक विकास के उच्चतम स्तर पर पहुँच कर आत्मा तो परमात्मा में लीन होकर तद्-रूप अथवा तदाकार हो जाती है। इस तरह उस अवस्था में ज्ञाता स्वयं ज्ञेय का रूप हो जाता है। अतः परमात्मा जैसा होना ही परमात्मा को जानना है। पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी, अपने आप को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

हे नानक! वह प्रभु आप ही जानता है कि वह कितना बड़ा है। (कोई नहीं जानता कि परमात्मा कितना बड़ा है। हाँ, यह बात निश्चित है कि) हमें जो कुछ भी मिलता है, उस दया-दृष्टि करनेवाले (परम पिता, परमात्मा) के फ़ज़्ल अथवा अनुग्रह द्वारा ही मिलता है। (हमें कुछ भी हमारे अपने बल द्वारा प्राप्त नहीं होता)।।२४।।

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

१. इतना बड़ा। २. उस। ३. वही। ४. जितना बड़ा। ५. कृपा-दृष्टि करनेवाला। ६. फ़ज़्ल अथवा अनुग्रह द्वारा। ७. दैनिक जीवन का यह एक साधारण-सा अनुभव है कि यदि किसी ऊँचे स्थान (छज्जे, छत्त आदि) पर पड़ी हुई वस्तु को देखना हो तो उतना ही ऊँचा उठना पड़ता है। इसी प्रकार किसी ऊँची बात को समझने के लिए भी बुद्धि का उतना उन्नत होना आवश्यक है। परन्तु परमात्मा जितना बड़ा है उतना बड़ा तो उससे भिन्न कोई अन्य हो ही नहीं सकता। इसलिए परमात्मा के अलावा कोई भी यह नहीं जान सकता कि वास्तव में वह कितना बड़ा है।

बहुता करमु[१], लिखिआ ना जाइ।।
वडा दाता, तिलु न तमाइ[२]।।
केते मंगहि, जोध[३] अपार।।
केतिआ, गणत[४] नही वीचारु।।
केते, खपि[५] तुटहि[६] वेकार।।

[पिछली पउड़ी की अन्तिम पंक्ति में श्री गुरु जी ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि हमें जो कुछ भी प्राप्त होता है परमात्मा की कृपा-दृष्टि द्वारा, परमात्मा की मेहरबानी अथवा नज़रेकरम से, ही मिलता है। अब परमात्मा के दर से असंख्य मांगनेवालों की ओर ध्यान दिलाते हुए उसकी बेहद बख़्शिश अथवा असीम उदारता का विशद वर्णन करते हुए फ़रमाते हैं-]

(उस अकाल पुरुष, परमात्मा का) करम (अथवा अनुग्रह या फ़ज़्ल) बहुत (ज़्यादा) है, (इतना ज़्यादा कि) उसे (अर्थात् उसका पूरा ब्योरा) लिखा नहीं जा सकता, उसका लेखा-जोखा नहीं किया जा सकता। वह (इतना) बड़ा दाता है परन्तु उसे तिल-भर, अथवा कण-मात्र, भी लालच नहीं है। (परमात्मा किसी अपनी लालच अथवा स्वार्थ की पूर्ति के लिए जीवों को दान नहीं देता। जीवों को तो वह इसलिए देता है क्योंकि देना उसका स्वभाव है। अत: दान देकर वह उसके एवज में किसी से कुछ भी लेने की इच्छा नहीं रखता।)

कितने ही, अपार (अथवा महाबली या अत्यन्त पराक्रमी) योद्धा (जिन्हें परास्त करना कठिन है) उस दातार प्रभु से याचना करते हैं (अर्थात् अति बलवान् समझे जाने वाले लोग भी अपने बल द्वारा कुछ प्राप्त नहीं कर पाते। वे भी अन्य याचकों की भाँति परमात्मा के सामने अपनी-अपनी झोली फैलाये रहते हैं। वास्तव में, योद्धाओं आदि का बल-पराक्रम भी परमात्मा की बख़्शिश के कारण ही है)।

(इसके अतिरिक्त वाहिगुरु से याचना करने वाले) कितने ही ऐसे अन्य जीव हैं जिन की गिनती का विचार भी नहीं किया जा सकता (अर्थात् जो हमारे ख़्याल या हिसाब में भी नहीं आ सकते)।

कितने ही (अर्थात् असंख्य ही अविवेकी एवं विकारी) जीव (परमात्मा से भांति-भांति पदार्थों का दान प्राप्त करके) बेकार ही (विषय-विकारों आदि में खचित रहकर अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लेते हैं और) क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। (अर्थात् ऐसे

१. फ़ज़्ल, अनुग्रह। २. लेने की इच्छा, लोभ। ३. योद्धा। ४. गणना, संख्या। ५. छीज अथवा क्षय होकर। ६. टूट जाते हैं।

केते, लै लै मुकरु पाहि[१]।।

केते मूरख, खाही खाहि[२]।।

केतिआ[३], दूख भूख सद मार[४]।।

लोग, विषय-भोगों को पाने और भोगने में ही व्यस्त रहते हैं और अपना नाश कर लेते हैं।)

कितने ही जीव (दातार प्रभु से अनेक प्रकार के पदार्थ आदि) ले लेकर मुकर जाते हैं। (वे परमात्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट न करके प्राप्त हुए सभी पदार्थों को अपने सामर्थ्य द्वारा ही कमाये हुए समझ लेते हैं। वे नाशुक्रे या कृतघ्न लोग हैं जो परमात्मा द्वारा किये गये उपकारों को भुला देते हैं।)

कितने ही ऐसे जड़-बुद्धि (नासमझ) लोग हैं जो (ईश्वर को दाता स्वीकार किये बिना, उस द्वारा दिये हुए असंख्य पदार्थ) खाते ही रहते हैं। (उन्हें परमात्मा द्वारा दान दिये हुए पदार्थों आदि से प्यार है और वे उन्हीं का उपभोग करने में मस्त रहते हैं। वे देनेवाले, कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु का धन्यवाद करना तो दूर उसका कभी ध्यान भी नहीं करते।)

कितने ही जीवों को सदैव दु:ख और भूख की मार पड़ती रहती है। (अर्थात् कितने ही जीवों को सदा कष्ट अथवा क्लेश मिलता रहता है। अनेक ही ऐसे जीव हैं जो, सदा अभाव-ग्रस्त रहकर अनेक प्रकार के कष्ट झेलते रहते हैं, अर्थात् कइयों को तो भरपेट खाना भी नसीब नहीं होता।

ऐसे अभावग्रस्त और दु:खी रहने वाले अधिकांश लोग परमात्मा को कोसने लगते हैं और उससे घृणा करने लगते हैं। परन्तु यदि सोचा जाये तो दु:ख एक ऐसी दवा है जो अत्यधिक कड़वी होने पर भी बहुत गुणकारी है। मनुष्य के जीवन में भाव-अभाव, दु:ख-सुख आदि का अपना-अपना विशेष स्थान है। वास्तव में दु:ख-सुख आदि एक ही पन्ने के दो पृष्ठ हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सुख प्राप्त होने पर मनुष्य अक्सर सुख-स्वरूप परमात्मा को याद नहीं करता परन्तु दु:ख अथवा अभावग्रस्त होने पर परमात्मा को याद करता है और बुराइयों का त्याग करने तथा प्रभु की रज़ा अथवा मर्जी के अनुसार चलने का प्रयास करता है।[५] इसलिए दु:ख मिलने अथवा दु:ख

१. मुकर जाते हैं। २. खाते ही जाते हैं। ३. कितने ही जीवों को । ४. निरन्तर-दण्ड।

५. दुखु दारू सुखु रोगु भइआ, जा सुखु तामि न होई।।

सलोकु, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४६९

एहि भि[१] दाति तेरी, दातार।।
बंदि खलासी[२], भाणै होइ।।
होरु[३], आखि न सकै कोइ[४]।।
जे को खाइकु[५], आखणि पाइ।।
ओहु जाणै, जेतीआ मुहि[६] खाइ।।

का सामना होने पर भी परमात्मा से कृतज्ञता पूर्वक विनती करनी चाहिए—)

हे दातार प्रभु! यह (दुःख एवं भूख आदि) भी आप ही का दिया हुआ दान (अथवा बख़्शिश) है। (ऐसा कहनेवाले प्रभु-परायण, विवेकी लोग दुःख, तकलीफ़ों को भी परमात्मा का प्रसाद अथवा प्रभु की इच्छा से प्राप्त हुई उसकी बख़्शिश जान कर, किसी प्रकार की शिकायत किये बिना, खुशी-खुशी सह लेते हैं।)

जीवों को भव-बन्धन (माया के मोह अथवा आवागमन या चौरासी के चक्कर) से छुटकारा भी परमात्मा की रज़ा, इच्छा अथवा दैवी विधान, के अनुसार ही मिलता है।

कोई नहीं कह सकता कि (माया के मोह अथवा भव-बंधन से छुटकारे का) कोई और ढंग भी है। (जीवों को भव-बन्धन से छुटकारा परमात्मा की रज़ा, हुक्म अथवा विधान के अनुसार चलने से ही मिलता है। न तो इसके अलावा छुटकारे का कोई साधन है और न ही इस विधान के संचालन में किसी का कोई दख़ल अथवा हस्तक्षेप सम्भव है।)[७]

यदि कोई बड़बोला या गपोड़पंथी (भव-बन्धन से छुटकारे का कोई अन्य साधन) बताने का दुःसाहस करे तो वह आप ही जानता है कि (ऐसी गुस्ताख़ी करने के कारण उसे अपने) मुँह पर कितनी खानी पड़ती हैं। (अर्थात् ऐसा करनेवाले व्यक्ति को बहुत ज़लील होना पड़ता है। अतः परमात्मा की रज़ा में चलना ही एक ऐसा साधन है जो जीव को माया के बंधन से छुटकारा दिला सकता है। दैवी इच्छा, आज्ञा या विधान को परम मान कर अपने मन और बुद्धि को उसके अनुरूप कर देना ही हमारा परम-कर्त्तव्य है।)

---

१. भी। २. छुटकारा। ३. अन्य, और। ४. कोई मनुष्य। ५. गपोड़पंथी। ६. मुँह पर।
७. बीओ पूछि न मसलति धरै।।
जो किछु करै सु आपहि करै।। गोंड, महला ५, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृ. ८६३

आपे जाणै, आपे देइ॥
आखहि, सि भि[१], केई केइ[२]॥
जिस नो बखसे, सिफति सालाह[३]॥
नानक, पातिसाही पातिसाहु॥ २५॥

वह दातार प्रभु आप ही (जीवों की सब आवश्यकताओं को) जानता है और आप ही जीवों को (सभी आवश्यक पदार्थ) देता है। (परमात्मा सब का साक्षी है। सब के दिल की जानने वाला होने के कारण बिना कहे ही सब कुछ जान लेता है और सब का दाता होने के कारण, अपने-आप सब की आवश्यकताएँ पूरी कर देता है।)

(परन्तु) यह (बात कि परमात्मा सब जीवों की ज़रूरतों को जानता है और सभी को ज़रूरी वस्तुएँ अपने-आप देता है) भी कोई-कोई, अर्थात् विरले व्यक्ति, ही कहते हैं। (ऐसे परमात्मा की रज़ा में राज़ी रहनेवाले, लोग बहुत कम हैं जो वास्तव में ही वाहिगुरु को सर्वज्ञ तथा परम दातार मानकर उसकी दी हुई हरेक वस्तु एवं स्थिति का स्वागत करते हुए उसका धन्यवाद तथा गुण-गान करते हैं।

परमात्मा असंख्य जीवों को आवश्यकता के अनुसार अनगिनत पदार्थ, और योग्यताएँ आदि प्रदान करता रहता है। संसार के सब पदार्थों से जो श्रेष्ठतम पदार्थ है अब उसका वर्णन करते हुए श्री गुरु जी अपने-आप को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

हे नानक! जिस जीव को परमात्मा अपना गुणगान, यश एवं कीर्तन करने की बख़्शिश करता है वह व्यक्ति राजाओं का भी राजा है। (राजाओं के पास तो सांसारिक धन-दौलत के भण्डार होते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्ति के पास हरिनाम रूपी आध्यात्मिक धन के, कभी समाप्त न होने वाले, सर्वथा-पूर्ण एवं अथाह भण्डार हैं। अत: ऐसा व्यक्ति ही सही अर्थों में महाराजाधिराज है)॥२५॥

१. वे भी। २. कोई-कोई, बिरले ही। ३. गुणगान, स्तुति।

अमुल[१] गुण, अमुल वापार[२]।।
अमुल वापारीए[३], अमुल भंडार।।
अमुल आवहि, अमुल लै जाहि।।
अमुल भाइ[४], अमुला समाहि[५]।।

[पिछली पउड़ी में कहा गया है कि जिस व्यक्ति को परमात्मा का गुणगान करने की बख़्शिश हो जाती है वह बादशाहों का बादशाह है, शहँशाह है। ऐसे शहँशाहों पर बख़्शिशें करनेवाला परमात्मा आप कितना बड़ा सम्राट् है इसका अन्दाज़ा भी नहीं लगाया जा सकता।

परमात्मा का हरेक गुण एवं कार्य विलक्षण तथा अपूर्व है, बेजोड़ है। परमात्मा के असंख्य गुणों में से किसी एक का भी मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। परन्तु परमात्मा की महिमा में डुबकियाँ लगानेवाला साधक, अपने अनुभव के आधार पर, कुछ कहे बिना रह भी नहीं सकता। इसीलिए इस पउड़ी में श्री गुरु जी 'अमुल' शब्द का बार-बार प्रयोग करते हुए फ़रमाते हैं—]

परमात्मा के (तथा परमात्मा द्वारा दिये हुए) गुण अमूल्य हैं, मूल्यातीत हैं (अर्थात् परमात्मा के गुणों का मूल्य आंका नहीं जा सकता)। उन गुणों का व्यापार (अर्थात् गुणों का पारस्परिक आदान-प्रदान या लेन-देन भी, जो वास्तविक एवं सच्चा व्यापार है,) अमूल्य है (अर्थात् दैवी-गुणों का विनिमय अथवा लेन-देन इतना कीमती है कि उसका मूल्य निर्धारित नहीं किया जा सकता)।

(उन दैवी गुणों के) सौदागर (अर्थात् जो लोग उन गुणों का व्यापार करते हैं, आपस में आदान-प्रदान करते हैं और उन गुणों को व्यवहार में लाते हैं, वे भी) अनमोल हैं। (उन गुणों के) भण्डार (या गोदाम, अर्थात् जिन लोगों ने अपने अन्तःकरण में दैवी गुणों का संग्रह किया हुआ है वे) भी अनमोल हैं।

अनमोल हैं वे जीव जो (संसार एवं सत्सङ्ग आदि में यह, दैवी गुणों का, सौदा लेने के लिए अथवा दैवी गुणों का संग्रह करने के लिए) आते हैं और जो (भाग्यवान् दैवी-गुणों को ख़रीद कर अथवा ग्रहण करके) ले जाते हैं वे भी अमूल्य हैं।

जो लोग अनमोल प्रभु-परमात्मा के प्रेम में रंगे रहते हैं वे अमोल हैं और (जो हरि-नाम की प्रेम-भक्ति द्वारा) उस मूल्यातीत परमात्मा में विलीन (होकर उसका ही रूप) हो जाते हैं, (अर्थात् परमात्मा के गुणों का संग्रह करते-करते उसके प्रेम में समा जाते हैं) वे भी अनमोल हैं।

१. अनमोल, मूल्यातीत। २. व्यापार। ३. व्यापारी। ४. प्रेम में। ५. समा जाते हैं।

अमुलु धरमु[१], अमुलु दीबाणु[२]।।
अमुलु तुलु[३], अमुलु परवाणु[४]।।
अमुलु बखसीस, अमुलु नीसाणु[५]।।
अमुलु करमु[६], अमुलु फुरमाणु[७]।।
अमुलो अमुलु[८], आखिआ न जाइ।।
आखि आखि, रहे लिव[९] लाइ[१०]।।

धर्म (अर्थात् परमात्मा द्वारा बनाया न्याय अथवा नियम, जिसमें बंधी हुई सारी सृष्टि चल रही है) अनमोल है। (परमात्मा का) दरबार या न्यायालय भी अमोलक है (जहाँ प्रतिपल उस अटल, अचल विधान को अमल में लाया जाता है)।

वह तराजू और वे बाट (अर्थात् वे तौल और मान, weights and measures) भी अमोलक हैं (जिनके द्वारा जीवों के किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों की नाप-जोख अथवा जाँच-परख की जाती है। 'तराजू' और 'परिमाण' शब्द तौलने और मापदण्ड का अर्थ देते हैं। वास्तव में ये दोनों शब्द 'कसौटी' के प्रतीक हैं। इसका भाव यह है कि जीवों के कर्मों को जिस आदर्श माप-दण्ड द्वारा अथवा जिस कसौटी पर परखा जाता है वह भी अनमोल है।)

(कृपा के अथाह सागर,) परमात्मा की बख़्शिश (जो वह हर जीव पर करता है) अमोलक है और (उसकी दृष्टि में स्वीकृत हुए जीवों को ईश्वरीय दरबार से प्राप्त होनेवाला, परवानगी या स्वीकृति का) निशान, चिह्न अथवा संकेत भी मूल्यातीत है।

(परमात्मा द्वारा जीवों पर की जाने वाली) रहमत, (अनुग्रह, दया अथवा कृपा) अनमोल है और उसका (परम-न्यायोचित फ़रमान अथवा) आदेश भी अमोलक है।

प्रभु-परमात्मा स्वयं अमूल्य ही अमूल्य है— नितान्त मूल्यातीत है। उसका कथन नहीं किया जा सकता। (परमात्मा सबसे ज्यादा अनमोल है; उसका मूल्य सब प्रकार की नाप-जोख, अटकल, अनुमान आदि से ऊपर है)।

(उस परमात्मा का) ध्यान लगा लगाकर और उसके बारे में कह कहकर कितने ही लोग रह गये (थक हारकर चुप कर गये; उनमें से कोई भी परमात्मा की अमोलकता की थाह न पा सका; परमात्मा और उसकी विशेषताओं का मूल्याङ्कन करने में सफल नहीं हो सका)।

---

१. न्याय, नियम। २. दरबार। ३. तुला, तराजू। ४. परिमाण, बाट, तौल। ५. निशान, चिह्न। ६. दया, रहमत। ७. फ़रमान, आदेश। ८. नितान्त अमूल्य। ९. ध्यान। १०. लगाकर।

आखहि[१], वेद पाठ पुराण।।
आखहि पड़े, करहि वखिआण[२]।।
आखहि बरमे, आखहि इंद।।
आखहि, गोपी तै गोविंद[३]।।
आखहि ईसर[४], आखहि सिध।।

[पिछली पंक्ति में कहा गया है कि कितने ही लोग परमात्मा का ध्यान लगा लगाकर और उसका कथन कर करके थक हार गये हैं। इसलिए यहाँ प्रश्न उठता है कि कौन-कौन परमात्मा और उसकी बड़ाई का कथन कर करके हार गये हैं और कौन-कौन परमात्मा का कथन करते रहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं —]

वेद और पुराण उसका कथन करते हैं (अर्थात् वेदों और पुराणों, यानि धर्म-ग्रन्थों का पाठ-पठन या उच्चारण करने वाले मनुष्य परमात्मा की अनमोलकता अथवा बड़ाई का कथन करते हैं।)

(कितने ही) पढ़े-लिखे अथवा विद्वान-लोग भी उसे कहते हैं (अर्थात् कितने ही पढ़े-लिखे लोग जो अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करके उन ग्रंथों की व्याख्या करते हैं) और (अपने अध्ययन के आधार पर) अन्य लोगों को व्याख्यान या उपदेश आदि देते हैं, वे भी परमात्मा की अनमोल सत्ता को ही बयान करते हैं।

अनेक ब्रह्मा और इन्द्र (सरीखे देवताओं के अधिपति) भी वाहिगुरु का कथन करते हैं। कितनी ही गोपियाँ और (उनके प्रिय) गोविन्द अथवा कान्ह भी उस करता पुरुष परमात्मा, (की बड़ाई) का बखान करते हैं।[५]

(कितने ही) शिव अथवा महेश और (योग-साधना आदि द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करने वाले) सिद्ध (योगी आदि भी परमात्मा का) कथन करते हैं।

---

१. कहते हैं। २. व्याख्यान, उपदेश। ३. कान्ह। ४. शिव।

५. इस पउड़ी में 'बरमे', 'इंद', 'गोपी', 'गोविंद' आदि शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। 'ब्रह्मा', 'इन्द्र' आदि, ईश्वरीय शक्ति के विभिन्न पहलुओं को चेतन जान कर लोगों द्वारा उनके रखे हुए नाम हैं। परन्तु, संत साहित्य की तरह, गुरुवाणी में भी देवी-देवताओं तथा अवतारों आदि को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है—

देवी देवा पूजीऐ भाई किआ मागउ किआ देहि।
पाहणु नीरि पखालीऐ भाई जल महि बूडहि तेहि।। सोरठि, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६३७

गुरुवाणी में, यहाँ तक कहा गया है कि वे परब्रह्म परमात्मा का भेद पाने में समर्थ नहीं हैं—

अवतार न जानहि अंतु।। परमेसरु पारब्रहम बेअंतु।।१।। रामकली, महला ५, वही, पृष्ठ ८९४

आखहि, केते कीते बुध[१]।।
आखहि दानव[२], आखहि देव।।
आखहि, सुरि नर[३] मुनि जन सेव[४]।।
केते आखहि, आखणि पाहि।।
केते, कहि कहि, उठि उठि, जाहि।।
एते कीते, होरि करेहि।।
ता, आखि न सकहि, केई केइ[५] ।।

परमात्मा द्वारा पैदा किये हुए कितने ही बुद्ध (प्रबुद्ध, जगे हुए अथवा ज्ञानी लोग भी उस प्रभु का) कथन करते हैं।

दैत्य अथवा दानव (अपने कर्त्ता) परमात्मा का बखान करते हैं; देवता भी परमात्मा का कथन करते हैं।

दैवी गुणों (साधु, सुशील अथवा सुर-स्वभाव) वाले मनुष्य (आत्मा-परमात्मा, सत्-असत् आदि सूक्ष्म विषयों का चिन्तन-मनन करने वाले) मुनि जन और भक्त लोग भी परमात्मा का कथन करते हैं। (इसका भाव यह है कि देवताओं और दैत्यों जैसी मानसिक अवस्था वाले व्यक्ति, साधु-स्वभाव और आध्यात्मिक चिन्तन मनन करने वाले लोग तथा प्रभु-भक्त भी अपने कर्त्ता, परमात्मा का ही बोध कराते हैं)।

(किस-किस का नाम लेकर गिनाया जाये? न जाने) कितने ही परमात्मा (और उसकी अनमोल सत्ता व बड़ाई) का कथन करते हैं और कितने ही अन्य जीव उसे कहने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कितने ही (वाहिगुरु का) कथन कर करके (इस संसार से) उठते जाते हैं (अर्थात् ऐसा कथन करते-करते उनका जीवन-काल समाप्त हो जाता है)।

(श्री गुरु जी फ़रमाते हैं कि असल बात तो यह है कि परमात्मा द्वारा) जितने जीव उत्पन्न किये हुए हैं यदि परमात्मा इतने ही और जीव पैदा कर डाले तो भी (इतनी बड़ी संख्यावाले जीवों में से) कोई विरला अथवा एकाध भी परमात्मा के अमूल्य गुणों को बयान नहीं कर सकेगा। (अर्थात् कोई भी उस परम रहस्यमय, कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु, परमात्मा अथवा उसके गुणों को निश्चित, स्पष्ट अथवा पूर्ण रूप से बयान नहीं कर सकता। कोई भी इस बात का अंदाजा नहीं लगा सकता कि परमात्मा कितना बड़ा

१. बुद्ध, ज्ञानी। २. राक्षस, दैत्य। ३. देवता समान मनुष्य। ४. सेवक, भक्त। ५. कोई-कोई, एकाध।

जेवडु[१] भावै[२], तेवडु[३] होइ।।
नानक, जाणै साचा[४] सोइ।।
जे को, आखै बोलुविगाड़ु[५]।।
ता लिखीए, सिरि गावारा गावारु[६]।। २६।।

है क्योंकि) परमात्मा को जितना अच्छा लगता है (परमात्मा जितना चाहे या जितनी उसकी मरज़ी हो) उतना ही बड़ा हो जाता है।[७] (परमात्मा की विराटता या विशालता उसकी अपनी मरज़ी पर निर्भर करती है। उसकी मरज़ी क्या है? यह कोई नहीं जानता। अतएव श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

हे नानक! वह सदा सत्य (सदा स्थिर या विद्यमान रहनेवाला परब्रह्म परमात्मा अपने आपको, अपने रहस्य और अपनी बड़ाई को)आप ही जानता है।

यदि कोई वचन बिगाड़ने वाला (बेतुकी बात करने वाला, ज़टल्ली या बकवासी) कहे (कि मैं जानता हूँ परमात्मा कितना बड़ा है) तो उसे हद दर्जे का उजड्ड अथवा मूर्ख-शिरोमणि लिखा (कहा या समझा) जाना चाहिए।। २६।।

[किसी व्यक्ति द्वारा ऐसा दावा किया जाना कि ''मैं बता सकता हूँ, परमात्मा कितना बड़ा है,'' महामूर्खता नहीं तो और क्या है? परमात्मा के ध्यान में लीन होते ही साधक विस्मित हो जाता है और अपने आपको भी भूल जाता है। फिर, साधक कैसे जान सकता है कि परमात्मा कितना बड़ा है? वह अपने उस आध्यात्मिक अनुभव का यथातथ्य या हूबहू वर्णन करने में कैसे सफल हो सकता है? गुड़ का स्वाद चख लेने वाले गूँगे की तरह वह उस अकथनीय अनुभव का कथन नहीं कर सकता; हाँ, कुछ अंग-संकेतों द्वारा अपने आनन्द को प्रकट करने की अधूरी, असफल चेष्टाएँ चाहे करता रहे। परन्तु संकेत पूरे और स्पष्ट अर्थों का वाहन कैसे कर सकते हैं जबकि शब्द भी सूक्ष्म मनोभावों को पूरी तरह प्रकट करने में असमर्थ हैं? अत: वाहिगुरु कितना बड़ा है, यह केवल वह आप ही जानता है; उसके अलावा और कोई नहीं जानता।]

---

१. जितना बड़ा। २. उसे अच्छा लगे; वह चाहे। ३. उतना बड़ा। ४. सदा-स्थिर प्रभु। ५. झक्की, ज़टल्ली; बकवासी। ६. महामूर्ख।

७. व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ब्रह्मन्' शब्द संस्कृत की बृह् अथवा बृंह् धातु के साथ 'मनिन्' प्रत्यय लगाने से बना है। बृह् अथवा बृंह् धातु का अर्थ होता है 'बढ़ना', 'फैलना', आदि। अत:, ब्रह्म का अर्थ हुआ 'सदा फैलनेवाला, निरतिशय बढ़नेवाला।' ब्रह्म बृहत्तम है, महत्तम है। वह अनन्त और व्यापक विश्वात्मा है। इसे ही 'भूमा' अथवा समष्टि-रूप परमतत्व भी कहते हैं।

सो दरु[1], केहा, सो घरु[2] केहा, जितु बहि सरब समाले[3]॥
वाजे नाद अनेक असंखा, केते वावणहारे[4]॥
केते राग, परी[5] सिउ कहीअनि, केते गावणहारे[6]॥

[परम पुरुष परमात्मा की बेअन्तता, असीमता और विराटता की गहरी छाप हमारे मन पर बिठाने के लिए श्री गुरु जी ने श्री जपुजी साहिब में अब तक कई बार, कई स्थलों पर, भिन्न-भिन्न प्रकार से हमारा पथ-प्रदर्शन किया है। परमात्मा का ऐसा विशद, निर्मल और विस्मयकारी यश सुनकर साधक का मन उस शहंशाहों के शाहंशाह के दरबार और वास-स्थान आदि की शोभा; वहाँ के ठाठबाट, रौनक आदि के बारे में जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। साधकों की इस जिज्ञासा की पूर्ति करने के लिए श्री जपुजी साहिब की इस सत्ताईसवीं पउड़ी में उसी का एक अद्भुत, चित्ताकर्षक, विराट् शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हुए श्री गुरु नानक देव जी महाराज फ़रमाते हैं—]

(हे निरंकार प्रभु!) आपके घर का द्वार, कैसा (विस्मयकारी) है! आपका वह घर-दरबार कैसा (अदभुत्) है जहाँ बैठ कर आप सब (चराचर सृष्टि) की सम्भाल, देख-भाल, व्यवस्था या उसका नियन्त्रण करते हैं! (इस पंक्ति में वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमात्मा के घर के मुख्य द्वार, दहलीज़ या ड्योढ़ी और घर-दरबार के बारे में जानने के लिए न केवल जिज्ञासा प्रकट की गयी है बल्कि विस्मय की भावना का प्रदर्शन भी किया गया है। भाव यह है कि हे प्रभु! आपके घर का द्वार और आप का घर, अथवा आवास कितने आश्चर्यजनक हैं!)

वहाँ (आपके उस अपूर्व द्वार पर) अनेक प्रकार के बाजों के बजने से असंख्य प्रकार के नाद अथवा मधुर ध्वनियाँ (उत्पन्न होकर एक मनमोहक गूँज पैदा करती रहती हैं)। कितने ही उन (विभिन्न प्रकार की ध्वनियों को पैदा करनेवाले बाजों) को बजानेवाले हैं।

(उस मधुर वाद्य-संगीत के साथ-साथ वहाँ तेरी स्तुति में निरन्तर) कितने ही राग अपनी रागनियों सहित बजाये और गाये जा रहे हैं (और उन राग, रागनियों को) गानेवाले भी असंख्य हैं।

---

१. द्वार, दहलीज़, ड्योढ़ी। २. घर, वास-स्थान। ३. नियंत्रण में रखते हो। ४. बजानेवाले। ५. राग की पत्नी, रागिनी। ६. गानेवाले, गायक।

गावहि तुहनो, पउणु पाणी बैसंतरु, गावै राजा धरमु[१], दुआरे[२]॥
गावहि चितु गुपतु, लिखि जाणहि, लिखि लिखि[३] धरमु वीचारे॥
गावहि ईसरु, बरमा, देवी, सोहनि सदा सवारे॥
गावहि इंद इदासणि बैठे, देवतिआ दरि[४] नाले[५]॥
गावहि सिध[६] समाधी अंदरि, गावनि साध[७] विचारे॥
गावनि जती, सती, संतोखी[८], गावहि वीर[९] करारे[१०]॥

(हे प्रभु!) पवन, पानी तथा अग्नि (आदि तत्व, जिन्हें लोग देवता समझकर पूजते हैं) आप का यश गा रहे हैं और (आपके हुक्म में बन्धा हुआ) धर्मराज भी आपके द्वार पर आपका गुणगान कर रहा है। (अर्थात् पवन, पानी, अग्नि और धर्मराज आदि भी अपने कर्त्ता, परमात्मा की बड़ाई अथवा उसके गुणों को ही प्रकट करते हैं।)

वे 'चित्र' और 'गुप्त' जो (धर्मराज के दूत माने जाते हैं और, लोकमत के अनुसार, जो जीवों के अच्छे और बुरे कर्मों का हिसाब) लिखना जानते हैं तथा जिनके लिखे हुए विवरणों (से, जीवों द्वारा किये पाप एवं पुण्य कर्मों) पर धर्मराज विचार करता है, वे भी आपका यशगान कर रहे हैं।[११]

शिवजी, ब्रह्मा (आदि देवता) और सभी देवियाँ, जो आप द्वारा ही सजाये, बनाये हुए शोभा देते हैं, आपकी महिमा का गान कर रहे हैं।

अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे हुए (देवताओं के अनेक राजा) इन्द्र भी अनगिनत देवताओं (अथवा अपनी-अपनी देव-प्रजाओं) समेत आप के द्वार पर उपस्थित हुए आपके गुणों का गायन कर रहे हैं।

सिद्ध (अर्थात् सिद्धियों से सम्पन्न, चमत्कारपूर्ण अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों—supernatural powers—से युक्त व्यक्ति) समाधियों में (अर्थात् चिन्तन-मनन में लीन होकर) और गहन विचारों में लगे हुए साधु लोग भी आप को गा रहे हैं (आपकी स्तुति कर रहे हैं)।

(अपनी इन्द्रियों को वश में करके उदासीन अथवा विरक्त रहनेवाले) यति अथवा जितेन्द्रिय (सत्य को धारण करनेवाले) सत्याचारी अथवा सत्यव्रती, सन्तोषी (अथवा हर हालत में ईश्वर की इच्छा पर निर्भर और शुक्र करनेवाले साबिर) तथा कड़े शरीरोंवाले वीर-बहादुर या जवाँ मर्द लोग भी आपका यश गा रहे हैं।

१. धर्मराज। २. द्वार पर। ३. लिख लिखकर ४. तेरे द्वार पर। ५. के साथ ६. सिद्धिप्राप्त योगी। ७. साधु। ८. संतोषी, साबिर। ९. बलवान्। १०. दृढ़, कड़े।

११. 'चित्रगुप्त' के बारे में संक्षिप्त विचार के लिए देखिये परिशिष्ट-५

गावनि पंडित पड़नि रखीसर[१], जुगु जुगु वेदा नाले।।
गावहि मोहणीआ[२] मनु मोहनि, सुरगा मछ[३] पइआले[४]।।
गावनि रतन[५] उपाए[६] तेरे, अठसठि तीरथ नाले।।
गावहि जोध[७], महाबल[८] सूरा[९], गावहि खाणी चारे।।
गावहि खंड, मंडल, वरभंडा[१०], करि करि रखे धारे[११]।।
सेई[१२] तुधु नो गावहि, जो तुधु भावनि, रते[१३] तेरे भगत, रसाले[१४]।।
होरि केते गावनि, से मै चिति न आवनि, नानकु किआ वीचारे।।

प्रत्येक युग (Age) में वेदों को पढ़ने वाले (अर्थात् धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन अथवा अध्ययन करने वाले) पंडित या विद्वान और साथ ही (मन्त्रों के द्रष्टा) महाऋषि भी आपका ही गुणगान करते रहते हैं।

स्वर्ग, मृत्यु और पाताल (आदि तीनों) लोकों में जो मन को मोह लेने वाली सुन्दरियाँ हैं वे भी आपका ही यश गा रही हैं।

हे प्रभु! आपके द्वारा उत्पन्न किए हुए रत्न (अथवा सभी बहुमूल्य पदार्थ) और साथ ही अड़सठ (अर्थात् सभी महान्) तीर्थ भी आपकी ही महिमा गा रहे हैं।

(हे अकाल पुरुष, परमात्मा!) योद्धा तथा अन्य महाबली सूरमा (अथवा बहादुर लोग भी) आपका गायन (अर्थात् आपके गुणों और यश का गान) कर रहे हैं। उत्पत्ति की चारों खानियाँ (अर्थात् उत्पत्ति के सभी स्रोत और उन स्रोतों से उत्पन्न होने वाले अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज जीव, पदार्थ और वनस्पति आदि) आप की महिमा गा रहे हैं। (अर्थात् वे सब आप ही की महिमा को प्रदर्शित कर रहे हैं।)

आपके द्वारा बनाकर टिकाये हुए सभी ब्रह्माण्ड, उनके विभिन्न खण्ड (अर्थात् छोटे-छोटे विभाग) तथा सौर-मण्डल भी आपका गुणगान कर रहे हैं।

हे रसालय! (=रस+आलय। हे सभी रसों अथवा प्रेम के घर, प्रभु! वास्तव में) वे ही आपको गाते हैं (आपकी स्तुति करते हैं) जो आपके रंग में रंगे हुए हैं (अर्थात् आपकी याद, भक्ति अथवा प्रेम में लीन रहनेवाले) आपके भक्त हैं और (जो आपके लिए अनन्य प्रेम एवं श्रद्धा रखने के कारण) आपको भाते हैं, अच्छे लगते हैं।

(इनके अतिरिक्त) कितने ही अन्य जीव आपका यशगान करते हैं, जो मेरे चित्त (विचार अथवा याद) में नहीं आते। अतः नानक उन सब का क्या अथवा कैसे विचार

१. ऋषीश्वर। २. मोह लेनेवाली सुंदरियाँ। ३. भूलोक। ४. पाताल-लोक। ५. रत्न। ६. पैदा किये हुए। ७. योद्धा। ८. महाबली। ९. शूरवीर। १०. ब्रह्माण्ड। ११. टिकाये हुए। १२. वे ही। १३. अनुरक्त। १४. रसालय।

सोई सोई[१] सदा सचु, साहिबु[२] साचा, साची नाई[३]॥
है, भी होसी, जाइ न जासी[४], रचना जिनि[५] रचाई॥
रंगी रंगी भाती[६], करि करि, जिनसी[७] माइआ जिनि उपाई॥
करि करि वेखै, कीता आपणा, जिव[८] तिस दी वडिआई[९]॥

करे? (उनके बारे में क्या कहे? अर्थात् उनके बारे में कुछ कहना सम्भव नहीं है।)

[श्री गुरु नानक देव जी ने परब्रह्म परमात्मा के दर-घर के इस शब्द-चित्र में धरती, आकाश आदि की सभी शक्तियों और परमात्मा द्वारा रचित सृष्टि की हर जड़ व चेतन, सूक्ष्म व स्थूल हस्ती और चीज को अकाल पुरुष के द्वार पर, कुछ पा जाने की आशा से, उसका गुणगान करते हुए दिखाया है। स्पष्ट है कि ये सभी परमात्मा पर आश्रित हैं; परमात्मा के नियन्त्रण में, परमात्मा के अधीन हैं। इनमें से कोई या कुछ भी शाश्वत या अनश्वर नहीं है; एकरस रहने वाला नहीं है। इसी तथ्य पर बल देने के लिए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं-]

वही, केवल वह (परमात्मा) ही सदा सलामत रहने वाला है। वह मालिक सच्चा है और उसकी प्रभुता (बड़ाई, नाम या प्रताप) भी शाश्वत है। (सभी दुनियावी मालिक झूठे हैं। इनमें से कोई भी सच्चा मालिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो व्यक्ति आज किसी वस्तु, पद, जायदाद आदि के मालिक हैं वे कल आप ही नहीं रहेंगे। परन्तु सृष्टि में जो कुछ भी है, परमात्मा ही उसका कर्ता और सदा के लिए मालिक है। इसलिए सच्चा मालिक केवल परमात्मा ही है।

ऐसा वह कर्त्ता पुरुष, सृजनहार, परमात्मा) जिसने यह सारी रचना रची है अब भी है और भविष्य में भी रहेगा। वह न कहीं जाता है और न जाएगा। (अर्थात् वह न कभी जन्म लेता है और न कभी मरेगा। सृष्टि प्रतिपल अपना रूप बदलती रहती है और नश्वर है। जो उत्पन्न होता है उसका विनाश अवश्य होता है। परन्तु परमात्मा कभी पैदा नहीं होता, इसलिए सदैव एकरस, एकरूप रहता है।)

उस कर्त्तार स्वामी ने विभिन्न रंगों-ढंगों और विविध तरह की; (जीवों, पदार्थों आदि की विभिन्न जातियों, प्रकारों या वर्गों वाली) माया (रूपी प्रपंच) की उत्पत्ति की है।

वह करता पुरुष संसार की रचना करके, अपनी बड़ाई के अनुरूप आप ही उस (इतनी बड़ी रचना की) देख-रेख करता है। (इसका भाव यह है कि परमात्मा आप

१. केवल वह ही। २. मालिक। ३. नाम, बड़ाई। ४. न जन्म लेता है, न मरेगा। ५. जिसने। ६. भाँति-भाँति की। ७. जीवों, पदार्थों आदि की जातियों, प्रकारों या वर्गों की। ८. जैसे। ९. बड़ाई।

जो तिसु भावै, सोई करसी[१], हुकमु न करणा जाई॥
सो पातिसाहु, साहा पातिसाहिबु[२], नानक, रहणु रजाई[३]॥ २७॥[४]

हीं सृष्टि की रचना करता है और आप ही उसका पालन, नियन्त्रण आदि करता है। सृष्टि की उत्पत्ति और इसकी किसी प्रकार की व्यवस्था के लिए उसे किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ती। यह सब कुछ उस करतार पर ही आश्रित है।)

उसे (सर्वसामर्थ्यवान परमात्मा को) जो भाता है (अथवा मंज़ूर होता है या उसे जो कुछ भी अच्छा लगता है) वह वही करता है। (इस विषय में किसी द्वारा भी उस पर) हुक्म नहीं चलाया जा सकता। (अर्थात् परमात्मा को कोई आदेश नहीं दिया जा सकता कि वह क्या करे और क्या न करे। उस पर हुकूमत करने वाला कोई नहीं है। परमात्मा किसी के अधीन नहीं है और उसके कार्यों में किसी द्वारा, किसी प्रकार का, हस्तक्षेप सम्भव नहीं है)।

वह (परमात्मा) बादशाह है। वह बादशाहों का भी बादशाह (अर्थात् सब का शहंशाह) है (अर्थात् परमात्मा सर्वशक्तिमान् है और सब सृष्टि उसकी अधीनता या नियन्त्रण में है। इसलिए श्री गुरु जी महाराज अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! उस (सर्वशासक हरि) की रज़ा में रहना (अर्थात् उसकी मर्ज़ी के अनुसार चलना) ही उचित है (परब्रह्म परमात्मा के हुक्म, उसकी रज़ा अथवा इच्छा के अनुसार चलना ही एक ऐसी युक्ति है जिससे जीव और परमात्मा के बीच की दूरी कम होती चली जाती है और अन्त में जीव और परमात्मा के बीच का, असत्य का, पर्दा दूर हो जाता है।)॥२७॥[५]

[पुराने जमाने में लगभग हरेक राजा के महल आदि के मुख्य द्वार अथवा ड्योढ़ी पर वाद्य संगीत का कार्यक्रम हुआ करता था। वहाँ चारण, भाट आदि राजा का यशगान

१. करेगा। २. बादशाहों का मालिक। ३. रज़ा या मर्ज़ी के अनुसार।

४. यह पद श्री जपुजी साहिब के अतिरिक्त दो बार और—'सोदरु रागु आसा महला १' तथा 'रागु आसा महला १ घरु १' के शीर्षक से— श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में क्रमशः पृष्ठ ८ और ३४७ पर भी आया है। परन्तु वहाँ पर कुछ शब्दों की वर्तनी (spellings) में अन्तर है जो सम्भवतः गाने के लिए किया गया है। थोड़ा पाठान्तर होने के बावजूद अर्थों में कोई परिवर्तन नहीं होता। **श्री जपुजी साहिब और सोदरु में आये इस पद के शब्दों के अन्तर के लिए देखिये परिशिष्ट-६**

५. पंचम नानक, श्री गुरु अर्जुन देव जी ने भी अपनी एक अष्टपदी में परमात्मा के विस्मयकारी दरबार का शब्द-चित्रण किया है। देखिये परिशिष्ट-७

किया करते थे। यह गीत-संगीत का कार्यक्रम इतना प्रभावोत्पादक हुआ करता था कि सुनने वाले आगन्तुकों तथा प्रजा आदि के मन पर राजा के वैभव, बल-पराक्रम एवं कीर्ति की गहरी छाप छोड़ता था। उसी बिम्ब (imagery) का प्रयोग करके, श्री गुरु नानक साहिब ने इस पउड़ी में वाहिगुरु को सीधा संबोधित करते हुए, आम आदमी की ओर से, उस दर-घर के बारे में जानने के लिए जिज्ञासा प्रकट की है जहाँ बैठ कर वह सारी सृष्टि की देखरेख करता है और, इस जिज्ञासा के उत्तर में स्वयं ही उस शहंशाहों के एकमात्र परम शहंशाह के दर-घर व दरबार का विस्मयकारी, विराट् शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है।

इस विराट् शब्द चित्र में श्री गुरु जी ने बताया है कि वहाँ कितना मनमोहक संगीत निरंतर होता रहता है और प्रभु के बनाये सभी देवी, देवता, अवतार आदि बड़ी-बड़ी हस्तियाँ भी कैसे अपने कर्ता के गुणगान में व्यस्त रहती हैं। सृष्टि में जो कुछ भी और जो कोई भी है वह परमात्मा के अधीन है और उसकी मर्ज़ी का ताबेदार है। केवल वह प्रभु ही परम सत्य है जो सदा एकरस कायम रहता है। उसके अलावा सब कुछ नश्वर है। वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमात्मा ही सर्वोपरि या चरम सत्ता और शक्ति है। इसलिए जीव को चाहिए कि वह परमात्मा की रज़ा में रहे।

यह भली भाँति समझ लेना ज़रूरी है कि परमात्मा के जिस विराट् दर-घर का शब्द-चित्रण इस पउड़ी में किया गया है, वह धरती अथवा आकाश के किसी भी विशेष स्थान पर स्थित नहीं है। परमात्मा तो पानी, धरती और अन्तरिक्ष, अर्थात् सब जगह, समाया हुआ है, विद्यमान है। उसका ठिकाना सब जगह है। सारी सृष्टि उसका चौबारा है, जिसमें वह निवास करता है। चारों दिशाएँ उसके चौबारे की दीवारें हैं। धरती उसके चौबारे का फर्श है और आकाश छत।[१]]

---

१. पुड़ु धरती पुड़ु पाणी आसणु चारि कुंट चउबारा॥
सगल भवण की मूरति एका मुखि तेरै टकसाला॥ १॥
मेरे साहिबा तेरे चोज विडाणा॥
जलि थलि महीअलि भरपुरि लीणा, आपे सरब समाणा॥ १॥ रहाउ॥

सोरठि, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ५९६

मुंदा[१] संतोखु, सरमु[२] पतु[३] झोली[४], धिआन[५] की करहि[६] बिभूति[७]॥

[पिछली पउड़ी में परमात्मा को सर्वोपरि सत्ता बता कर उसकी रज़ा में चलने का उपदेश दृढ़ कराया गया है। आम देखने में आता है कि लोग भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में शामिल होकर उनकी वेशभूषा आदि भी धारण कर लेते हैं। परन्तु कुछ समय बीत जाने पर वह विशेष वेशभूषा केवल चिह्न मात्र बन कर रह जाती है। उसे धारण करने वाले लोग उसके पिछे छिपी हुई भावना की परवाह नहीं करते। अधिक समय बीत जाने के बाद वे साधन को ही साध्य समझ बैठते हैं।

श्री गुरु नानक देव जी के जीवन-काल में भारत की धार्मिक-स्थिति कुछ ऐसी ही थी। अनेक छोटे-छोटे मत-मतान्तर प्रचलित थे। नाथों, सिद्धों का बड़ा प्रभाव था। परन्तु वे धर्म के मूल तत्त्वों को भूलाकर सही रास्ते से भटक चुके थे।

श्री गुरु नानक देव जी ने सिद्ध एवं नाथ-योगियों के अनेक मठों में जाकर उनसे ज्ञान-गोष्ठियाँ की थीं[८] और उन्हें बाहरी आडम्बरों का परित्याग करने तथा दैवी गुणों का संग्रह करके सहज योग अपनाने का सदुपदेश दिया था। इसकी एक झलक आगे आने वाली चार पउड़ियों में दिखाई देती है।

इस, अट्ठाइसवीं पउड़ी में श्री गुरु जी नाथ अथवा कनफटे योगियों की पोशाक तथा चिह्नों आदि को नवीन अर्थ दे कर अपना मत स्पष्ट करते हुए फ़रमाते हैं—]

हे योगी! तुम (असली मायनों में योगी तभी कहला सकते हो यदि तुम) अपने कानों में (काँच, स्फटिक आदि के बने कुण्डल पहनने की बजाय अपने मन में) सन्तोष (अर्थात् सब्र-शुक्र या हर हालत में परमात्मा की इच्छा पर निर्भर रहने की भावना को धारण कर लो और इस भावना) को ही अपने कानों की मुद्राएँ अथवा कुण्डल बना या समझ लो। (द्वार-द्वार भटक कर, भीख मांगने की बजाय अपनी आजीविका स्वयं कमाने और परमात्मा-प्राप्ति की राह पर बढ़ने के लिए) श्रम को खप्पर (अर्थात् भिक्षा-पात्र) और (भिक्षा में मिला सामान आदि डालने के लिए) झोली बना लो। (उपलों आदि की राख की बजाय, परब्रह्म परमेश्वर के) ध्यान की भभूत

१. मुद्रा; काँच या स्फटिक का बना कुंडल जो गोरखपंथी कानों में पहनते हैं। २. श्रम। ३. भिक्षापात्र, खप्पर। ४. कपड़ा मोड़ कर या कपड़े के चारों कोने बाँध कर, बनाई हुई थैली। ५. किसी एक विषय आदि पर मन को स्थिर करके उसका चिन्तन करने की क्रिया। ६. कर लो, बना लो। ७. उपलों या शमशान की राख।
८. इस विषय पर श्री गुरु नानक देव जी द्वारा रचित 'सिध-गोसटि' नामक वाणी भी श्री गुरु ग्रंथ साहिब में पृष्ठ ९३८ से ९४६ तक संगृहीत है।

खिंथा[१] कालु, कुआरी[२] काइआ जुगति[३], डंडा परतीति[४]।।

लगाओ (अर्थात् अपने ध्यान को परमात्मा की हुज़ूरी में निरन्तर टिकाये रखो और मन के ऐसे टिकाव को ही अपने शरीर पर लगी हुई भभूत समझो। इस तरह देह के बारे में अहंकार अथवा भ्रान्त ज्ञान और अपने कृत्यों को भस्मसात् कर दो। अपनी चेतना को हरि-नाम में लगाये रखना ही आत्मा और परमात्मा के बीच के अन्तर को मिटाने का सहज साधन है। इसलिए इसे ही असली भभूत समझो और खूब रमाओ)।

(शरीर को कालवश समझो अर्थात् अपने मन में यह विचार दृढ़ कर लो कि हमारी देह काल अथवा मौत की मंगेतर है और इस तरह) मौत की निरंतर याद को अपनी गुदड़ी बना लो। (इसका भाव यह है कि केवल कंथा अर्थात् गुदड़ी पहनकर दिखावा करने का कोई लाभ नहीं। कंथा पहनने का अर्थ है– शरीर के मोह को त्यागकर मृत्यु को सदा याद रखना। मौत के लिए हर पल तैयार रहना ही असली गोदड़ी है।) देह को कुमारी (कन्या की तरह अर्थात् विकारों से अछूता) रखना ही तुम्हारे लिए योग की युक्ति हो।[७] (इसी युक्ति द्वारा मन-बुद्धि को देह की ओर से हटाकर 'सुरत' में समाया जाता है और 'सुरत' को 'हरि-नाम' में लीन करके आत्मा का परमात्मा से निरन्तर योग अथवा मिलाप प्राप्त किया जाता है।) प्रभु पर अटल विश्वास ही तुम्हारा डण्डा हो। (नाथ योगी झाड़-फूँक करने और सहारा लेने के लिए अपने हाथ में एक डण्डा रखा करते थे। इसे भैरवनाथ का या गोरखनाथ का डण्डा या सोंटा भी कहा जाता है। इस बारे में श्री गुरु जी का फ़रमान है कि झाड़-फूँक करने और सहारा लेने के लिए डण्डा धारण करने की बजाय परमात्मा पर अटल विश्वास को अपने मन में दृढ़तापूर्वक टिका लो। इसका भाव यह है कि परमात्मा में दृढ़ विश्वास डण्डे की तरह केवल दिखावे की चीज़ नहीं है। यह तो हमारे दैनिक जीवन में, हमारे व्यवहार से झलकना चाहिए। हमारी हर हरकत से पता चलना चाहिए कि परमात्मा ही हमारा एकमात्र सहारा है।)

---

१. कंथा, गुदड़ी, चीथड़ों या रंग-बिरंगे कपड़ों के टुकड़ों को सीकर बनाया हुआ ओढ़ना या चोगा।
२. कुँआरी। ३. जुगत, तदबीर। ४. निश्चित विश्वास।

७. हमारी काया काल (अर्थात् मृत्यु) की मंगेतर (fiance) है। जैसे, कुमारी कन्या की जिस व्यक्ति के साथ मँगनी हुई होती है वह निश्चित दिन पर दूल्हा बनकर आता है और उसे विवाहकर ले जाता है उसी प्रकार अन्त समय आने पर काल शरीर से जान निकालकर ले जाता है--

साहे लिखे न चलनी, जिंदू कूं समझाइ।।
जिंदु वहुटी, मरणु वरु, लै जासी परणाइ।। सलोक फरीद, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३७७

आई पंथी[१], सगल जमाती[२], मनि जीतै जगु जीतु।।
आदेसु[३], तिसै आदेसु।।
आदि[४], अनीलु[५], अनादि, अनाहति[६], जगु जुगु एको वेसु।। २८।।

सबको अपने बराबर समझना (किसी को अपने से नीच या किसी को अछूत न जानना) आई-पन्थी होना है। (इसका भाव यह है कि जो व्यक्ति सब को एक-सा समझता है और किसी से भेद-भाव नहीं करता, केवल वह ही 'आई-पन्थ' का सदस्य होने का दावा कर सकता है।[७])

(तिलस्मी चमत्कार दिखाकर, छद्म-वेष अथवा कृत्रिम आचरण द्वारा लोगों को वश में करने की अपेक्षा गुरु परब्रह्म की कृपा द्वारा अपने मन को जीतना चाहिए क्योंकि यदि) मन को जीत लिया जाये (मन की इच्छाओं, प्रवृत्तियों आदि का निरोध कर लिया जाये) तो सारा संसार ही जीत लिया जाता है। (मन ही मनुष्य के भव-बंधन का कारण है। मन को जीतने वाला व्यक्ति भव-बंधन से मुक्त हो जाता है। लौकिक प्रपंच का विजेता बन जाता है। फिर संसार उसे मोह नहीं सकता— माया उसे भ्रम में डाल कर परमात्मा से अलग नहीं रख सकती)।

(हे योगी! अपना) 'आदेस! आदेस!!' (का अभिवादन अथवा प्रणाम) केवल उसी (वाहिगुरु) को करो जो (इसका असली अधिकारी है क्योंकि वह ही) सबका आदि, माया-मल से रहित (शुद्ध-स्वरूप), अनादि, तथा अविनाशी है और युग-युगों में (अर्थात् हरेक युग में, हमेशा) एकरूप (एक जैसा, अपरिवर्तित अथवा अपरिणामी) रहता है।। २८।।

---

१. आई पन्थ का अनुयायी। २. सब का साथी। ३. योगियों का, एक दूसरे से मिलने पर किया जानेवाला, प्रणाम या अभिवादन ४. जो सब का मूल या आदि है। ५. निरञ्जन, माया-मल-रहित। ६. अविनाशी। ७. योगियों के बारह फ़िरक़ों में से 'आई पन्थ' सबसे ऊँचा माना जाता है। 'आई' का अर्थ है—'माई' अर्थात् 'देवी माता'। आई देवी की पूजा करने के कारण इन्हें आई पन्थी कहा जाता है। आई देवी या आदि शक्ति के प्रति अपनी आस्था दर्शाने के लिए इस फ़िरक़े के योगी अपने नाम के अन्त में 'आई' पद का प्रयोग किया करते थे, जैसे—करकाई, भूष्टाई, नरमाई आदि। नरमाई के शिष्य मस्तनाथ ने 'आई' की जगह, शिव से संबंधित, 'नाथ' पद का प्रयोग शुरू किया। परन्तु इस परिवर्तन के साथ सभी आई-पन्थी योगी सहमत नहीं हुए।

योगी लोग संसार से विरक्त होकर अपने अलग-अलग टोल या दल बनाकर रहा करते थे। वे गृहस्थ का त्याग तो करते थे, परन्तु अपने निर्वाह के लिए गृहस्थियों के ही घरों से भिक्षा माँगा करते थे।

यहाँ श्री गुरु नानक देव जी योगियों को सब के साथ उदारता और सहिष्णुता का बरताव करने का उपदेश देते हुए समझाते हैं कि यदि तुम अपने आपको असली मायने में 'आई-पन्थी' कहलाना चाहते हो तो सभी मनुष्यों को अपनी ही जमाअत के, अपने ही टोल, दल, जत्थे या सम्प्रदाय के, अर्थात् अपने बराबर के, साथी समझो!

भुगति[१] गिआनु, दइआ भंडारणि[२],
घटि घटि वाजहि नाद[३]॥
आपि नाथु, नाथी सभ जा की,
रिधि[४] सिधि[५] अवरा[६] साद[७]॥

(हे योगी! तुम्हारे भण्डारों में बांटे जाने वाले भोग अथवा भोजन से केवल पेट ही भर सकता है। परन्तु मनुष्य-ज़ीवन का लक्ष्य केवल पेट भरना ही नहीं है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो आत्मोद्धार है। इसलिए उदर-पूर्ति के साथ-साथ आत्मा की तृप्ति करना बहुत ज़रूरी है। अत: हे योगी! अपने भण्डारों में बांटी जाने वाली भुक्ति, भोग अथवा भोजन की जगह सदैव) ज्ञान (अर्थात् दैवी-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान को अपनी) भुक्ति बना लो (आध्यात्मिक ज्ञान-विहीन अथवा आम व्यक्तियों आदि के प्रति सहानुभूति के भाव अथवा) दया को (आध्यात्मिक ज्ञान रूपी) भोग अथवा भोजन बाँटने के लिए भण्डारिन नियुक्त कर लो। (तुम्हारे भण्डारों अथवा भोजों में भोग आदि बाँटने अथवा भोजन शुरू करने से पहले जो सींगी बजाकर ध्वनि की जाती है उस बाहर की, कृत्रिम ध्वनि की जगह) अन्तर्मुख होकर प्रत्येक जीव के हृदय घट में निरन्तर बजने वाले (परमात्मा की सत्ता के) नाद को सुनो (अर्थात् परमात्मा, जो हर घट में बस रहा है, उसकी विद्यमानता को पहचानो)।

वह (परम पुरुष, परमात्मा) आप ही हम सब का असली नाथ है जिसने सारी सृष्टि को नाथा हुआ है। (अर्थात् जिसने सारी सृष्टि को अपने विधान के एक सूत्र में बाँधकर, उस पर अपनी प्रभुता जमायी हुई है। इसलिए उस सबसे बड़े नाथ की सेवा अथवा याद में ही अपना मन लगाये रखो और ऋद्धि, सिद्धि आदि प्राप्त करने के चक्कर में मत पड़ो क्योंकि) ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ (हरि-मिलन में सहायक न होकर उससे दूर ले जाने वाले) और ही (अर्थात् निकृष्ट या घटिया किस्म के) स्वाद या चसके हैं। (योगी लोग अपनी साधना द्वारा ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ या अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए कई प्रकार की दौड़-धूप करते हैं और इस प्रकार की कोई शक्ति प्राप्त हो जाने पर लोगों पर अपना प्रभाव डालने के लिए उसका प्रदर्शन करते फिरते हैं। इससे उनका अहं और बढ़ जाता है और वे अपने आध्यात्मिक पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते। इस प्रकार ये शक्तियाँ उनके रास्ते की रुकावट बन कर उन्हें ईश्वर-प्राप्ति के लक्ष्य से दूर ले

१.भुगुति, भुक्ति, भोग, भोजन। २. भण्डारिन। ३. शब्द, अव्यक्त शब्द। ४. ऋद्धि, समृद्धि, उत्कर्ष। ५. अलौकिक शक्ति। ६. अन्य प्रकार के, निकृष्ट। ७. स्वाद, चसके।

संजोगु विजोगु दुइ[१], कार[२] चलावहि,
लेखे आवहि भाग[३]॥
आदेसु[४], तिसै आदेसु॥
आदि[५], अनीलु[६], अनादि, अनाहति[७],
जुगु जुगु एको वेसु[८]॥ २९॥

जाती हैं। श्री गुरु जी चेतावनी देने के लिए फ़रमाते हैं कि ऋद्धियों, सिद्धियों आदि की प्राप्ति को कभी भी अपनी साधना का उद्देश्य नहीं बनाना चाहिए बल्कि मन में सदा याद रखना चाहिए कि —)

(उस परमेश्वर के दैवी विधान के अधीन ही) संयोग और वियोग (अर्थात् मिलन और बिछोह अथवा जुड़ना और टूटना, आदि) के दो नियम जगत् के कार्य को चला रहे हैं। (इसका भाव यह है कि पदार्थों का संघटन और विघटन प्रकृति का सार्वभौम नियम है। इसी तरह जीवों का आपस में तथा परमात्मा के साथ मिलन और एक-दूसरे से तथा परमात्मा से वियोग जीव-जगत् का व्यापक सत्य है। ये संयोग और वियोग की दोनों प्रक्रियाएँ अथवा नियम परमात्मा द्वारा बनाये, दैवी विधान के अधीन हैं। जीवों द्वारा किये हुए कर्मों के अनुसार) जो कुछ भी किसी के हिसाब में अथवा भाग्य में लिखा होता है उसे वही प्राप्त होता है। (इस प्रकार, श्री गुरु नानक देव जी केवल वाहिगुरु को ही सारी सृष्टि का नाथ, स्वामी अथवा अधीश्वर बताकर, उसकी सर्वोच्चता, सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्वव्यापकता का ज्ञान कराते हैं और केवल उसी एक, अद्वितीय वाहिगुरु की उपासना करने का उपदेश देते हुए फ़रमाते हैं—)

(हे योगी! अपना) 'आदेस! आदेस!!' (का अभिवादन अथवा प्रणाम) केवल उसी (वाहिगुरु) को करो जो (इसका असली अधिकारी है क्योंकि वह ही) सबका आदि, माया-मल से रहित (शुद्ध स्वरूप), अनादि तथा अविनाशी है और युग-युगों में (अर्थात् हरेक युग में, सदैव) एकरूप (एक जैसा या अपरिवर्तित) रहता है॥ २९॥

---

१. दोनों। २. काम, संसार का कार्य-व्यापार। ३. भाग्य। ४. योगियों का, एक दूसरे से मिलने पर किया जानेवाला, प्रणाम या अभिवादन ५. जो सब का मूल अथवा आदि है। ६. निरञ्जन, माया-मल-रहित। ७. अविनाशी। ८. भेस, वेश।

एका[१] माई[२], जुगति[३] विआई[४], तिनि चेले परवाणु[५]॥
इकु संसारी, इकु भंडारी, इकु लाए दीबाणु[६]॥

[इस तीसवीं पउड़ी की पहली दो पंक्तियों में श्री गुरु नानक देव जी योगियों के विश्वास के अनुसार माया द्वारा त्रिदेव — ब्रह्मा, विष्णु और महेश— को जन्म देने और माया के उन तीन चेलों के अलग-अलग कर्तव्यों, अथवा उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों, का वर्णन करते हैं और फिर अगली दो पंक्तियों में इस विश्वास के बारे में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।]

(हे योगी ! तुम कहते हो, और यह विचार लोगों में भी प्रचलित है, कि) अद्वितीया, भगवती अथवा देवी माता किसी ढंग से ब्याई (अथवा किसी युक्ति से प्रसूता हुई) और (उसके इस प्रसव से) उसके तीन चेले[७] (अथवा पुत्र पैदा हुए) माने जाते हैं। उनमें से एक सांसारिक (अर्थात् ब्रह्मा) है (जो उत्पत्ति या सृष्टि रचने का काम करता है) एक भण्डारी (भण्डार या भण्डारे का अध्यक्ष, अर्थात् सृष्टि का पालन करने वाला, विष्णु) है और एक दीवान या कचहरी लगाता है (अर्थात् शिव है जो मृत्यु का आदेश देता है अथवा सृष्टि का संहार करता है)।

(परन्तु, हे योगी! तुम्हारी यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि तत्त्वत: इन तीन देवताओं की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे तो परमात्मा की अपार शक्ति के तीन मुख्य पक्ष या पहलू हैं जिनके अलग-अलग नाम और आकार लोगों द्वारा कल्पित कर लिये गये हैं।[८] माया की तरह ये भी कर्ता पुरुष, परमात्मा द्वारा रचे गये हैं और परमात्मा के नियन्त्रण में हैं।)

---

१. अद्वितीया, भगवती, देवी २. माता, माया। ३. किसी युक्ति अथवा विशेष विधि द्वारा। ४. प्रसूता हुई। ५. स्वीकृत। ६. दीवान, दरबार।

७. अध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु और चेले के बीच का सम्बन्ध पिता और पुत्र का सम्बन्ध समझा जाता है। इसलिए यहाँ पुत्र के लिए 'चेला' शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव में से एक भी माया के प्रभाव से स्वतन्त्र नहीं है। वे तीनों माया के तीन विशेष गुणों —रज, सत्व और तम —में से एक-एक का प्रतिनिधित्व करते हैं, यथा—

ब्रहमा बिसनु महादेउ त्रैगुण रोगी विचि हउमै कार कमाई॥

सूही, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ७३५

८. ब्रहमा बिसनु महेस इक मूरति, आपे करता कारी॥ रामकली, महला १, वही, पृष्ठ ९०८

इस संदर्भ में परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द के विचार ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं, ''ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र— ये सब एक ही परमात्मा के नाम हैं। सृष्टि-उत्पत्ति करने के कारण वह ब्रह्मा है, सृष्टि का पालन करने के कारण वह विष्णु है और सृष्टि का संहार करने के कारण वह रुद्र है।'' भर्तृहरिशतकम् (नई दिल्ली, सुबोध पब्लिकेशन्स, १९८७) पृष्ठ ८९

जिव[१] तिसु भावै, तिवै[२] चलावै, जिव होवै फुरमाणु[३] ।।
ओहु वेखै, ओना[४] नदरि न आवै[५], बहुता एहु[६] विडाणु[७]।।
आदेसु[८], तिसै आदेसु।।
आदि[९], अनीलु[१०], अनादि, अनाहति[११], जुगु जुगु एको वेसु[१२]।। ३०।।

सच्चाई यह है कि) उस परमात्मा को जैसे अच्छा लगता है वह संसार की कार्रवाई को वैसे ही चलाता है। (इन शक्तियों या देवताओं आदि के वश में कुछ नहीं है, वे तो वैसा ही करते हैं) जैसा उन्हें प्रभु, परमात्मा का आदेश होता है।[१३]

बड़े अचम्भे की बात यह है कि (तुम जिन्हें संसार के कर्त्ता, भर्त्ता अथवा भरण-पोषण करनेवाला और संहर्ता अथवा संहार करने वाला आदि समझते हो उन सब को नियन्त्रण में रखने और चलानेवाला) वह परमात्मा ही है, जो (उनके समेत) सबको सदैव देखता (अर्थात् सबका निरीक्षण करता) रहता है परन्तु आप उन्हें कभी नज़र नहीं आता। (इसका भाव यह है कि ऐसी सब शक्तियाँ यान्त्रिक हैं। उन्हें किसी प्रकार की भी स्वतन्त्रता नहीं है। उनका कोई भी कार्य उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। वे सब माया के अधीन हैं— उसी माया के, जिसका पर्दा बीच में पड़ा होने के कारण ये शक्तियाँ और हम भी अपने कर्ता, भर्ता, संचालक एवं स्वामी परब्रह्म को देखने अथवा जानने में असमर्थ हैं।

इस प्रकार अकाल पुरुष, परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वोच्चता का ज्ञान कराके श्री गुरु नानक देव जी केवल उस एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा की ही उपासना करने का उपदेश देते हुए फ़रमाते हैं—)

(हे योगी! अपना) 'आदेस! आदेस!!' (का अभिवादन अथवा प्रणाम) केवल उसी (वाहिगुरु) को करो जो (इसका असली अधिकारी है क्योंकि वह ही) सबका आदि, माया-मल से रहित (शुद्ध स्वरूप), अनादि तथा अविनाशी है और युग-युगों में (अर्थात् हरेक युग में, सदैव) एकरूप (एक जैसा या अपरिवर्तित) रहता है।। ३०।।

---

१. जैसे। २. वैसे ही। ३. फ़रमान, हुक्म ४. उनको। ५. नज़र में नहीं आता। ६. यह। ७. विस्मय, अचम्भा। ८. योगियों का, एक दूसरे से मिलने पर, किया जानेवाला प्रणाम या अभिवादन ९. जो सब का मूल अथवा आदि है। १०. निरञ्जन, माया-मल-रहित। ११. अविनाशी। १२. भेस, वेश।
१३. ब्रहमा बिसनु महेसु अपाइअनु हुकमि कमावनि कारा।।
रामकली की वार, महला ३; श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ९४८

आसणु[१], लोइ लोइ[२] भंडार[३]॥
जो किछु पाइआ, सु एका वार॥
करि करि वेखै, सिरजणहारु[४]॥

[परमात्मा की सत्ता सर्वोपरि है, इस विश्वास को दुहराते हुए श्री गुरु जी योगियों से फ़रमाते हैं कि तुम्हारे अलग-अलग फ़िरकों के आसन, अर्थात् भिन्न-भिन्न फ़िरकों के मुखियों या महन्तों के डेरे, ठिकाने अथवा गद्दियाँ भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित हैं। परन्तु नाथों के नाथ, परब्रह्म परमात्मा का आसन किसी एक विशेष लोक अथवा स्थान तक सीमित नहीं है।]

(परमात्मा का) आसन अथवा ठिकाना हरेक लोक में (संसार के सभी भागों में, सब जगह) है (अर्थात् परमात्मा सर्वव्यापक है, हर स्थान पर बसता है) और उसके (अन्न, धन आदि रखने के) भण्डार भी हरेक लोक में, सर्वत्र स्थित हैं। (अर्थात् उसके भण्डारे हरेक जगह चल रहे हैं। सबको, सब जगह रिज़क या जीविका जगत्-प्रतिपालक परमात्मा आप ही पहुँचा रहा है, कोई और नहीं।)

(हमें अपने भण्डारों को बार-बार भरना पड़ता है परन्तु परमात्मा ऐसा विलक्षण अथवा ऐसा बेजोड़ भण्डारी है कि उसने अपने भण्डारों में) जो कुछ भी रखना या भरना था वह सब कुछ एक ही बार (सदा के लिए ऐसे विचित्र ढंग से) डाल दिया है (कि वे सदा अखूट या अक्षय रहते हैं; वे कभी रिक्त या समाप्त नहीं होते अर्थात् उसके भण्डारों में किसी चीज की कमी नहीं आती। परमात्मा द्वारा अपने भण्डारों में डाला या भरा हुआ कोई भी पदार्थ पूरी तरह विनष्ट नहीं होता। परमात्मा के भण्डारों की ब्योंत या व्यवस्था एक चक्र के समान है जिसका कोई ओर-छोर ही नहीं मिलता)।

सृजनहार (अर्थात् सृष्टि की रचना करनेवाला, कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु) सृष्टि की रचना करके (उसे भूल नहीं जाता और न ही उसे किसी दूसरे की दया पर छोड़ देता है। वह तो) आप ही (सब जगह साक्षी बन कर) उसकी देख-भाल (और पालन-पोषण) करता है (अर्थात् सृष्टि की रचना और उसका पालन-पोषण आदि करने वाली दो अलग-अलग हस्तियाँ नहीं हैं)।

---

१. आसन, डेरा, ठिकाना, गद्दी। २. प्रत्येक लोक में। ३. गोदाम। ४. सृजनहार, सृष्टि-कर्त्ता।

नानक, सचे की[१], साची कार[२]॥
आदेसु[३], तिसै आदेसु॥
आदि[४], अनीलु[५], अनादि, अनाहति[६],
जुगु जुगु एको वेसु[७]॥ ३१॥

(श्री गुरु नानक देव जी अपने आप को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! उस सच्चे (अर्थात् सदा-स्थिर रहने वाले परमात्मा का, सृष्टि की रचना, और उसकी देख-भाल, पालन-पोषण आदि) का काम भी सच्चा है (यथार्थ है, अर्थात् यह सब केवल भ्रम ही नहीं है और न ही इसमें कोई कमी या त्रुटि है)।

(इस प्रकार वाहिगुरु अथवा परमात्मा की सर्वव्यापकता और सर्वोच्चता का ज्ञान कराके, उसकी रचना आदि के काम को सच्चा बताते हुए श्री गुरु जी केवल उसी एक अद्वितीय वाहिगुरु की उपासना करने का उपदेश देते हुए फ़रमाते हैं—)

(हे योगी! अपना) 'आदेस! आदेस!!' (का अभिवादन अथवा प्रणाम) केवल उसी (वाहिगुरु) को करो जो (इसका असली अधिकारी है क्योंकि वह ही) सबका आदि, माया-मल से रहित (शुद्ध स्वरूप), अनादि तथा अविनाशी है और युग-युगों में (अर्थात् हरेक युग में, सदैव) एकरूप (एक जैसा या अपरिवर्तित) रहता है॥ ३१॥

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

१. सदा-स्थिर, पारमार्थिक सत्ता की। २. कार्य, काम, रचना। ३. योगियों का, एक दूसरे से मिलने पर किया जानेवाला, प्रणाम या अभिवादन ४. जो सब का मूल अथवा आदि है। ५. निरञ्जन, माया-मल-रहित। ६. अविनाशी। ७. भेस, वेश।

इक दू जीभौ[१], लख होहि[२], लख होवहि लख वीस॥
लखु लखु गेड़ा[३] आखीअहि, एकु नामु जगदीस॥
एतु राहि, पति पवड़ीआ, चड़ीऐ, होइ इकीस[४]॥
सुणि गला आकास की, कीटा[५] आई रीस[६]॥

(परमात्मा की शक्ति और महिमा को सर्वोपरि बताकर श्री गुरु जी ने पिछली चार पउड़ियों में नाथ योगियों को सम्बोधित करते हुए बाहरी चिह्नों की जगह दैवी गुणों का संग्रह करने का उपदेश दिया है। अब श्री जपुजी साहिब की इस बत्तीसवीं पउड़ी में उस सच्चे, सदा-स्थिर अथवा कायम रहनेवाले परमात्मा, तक पहुँचने के लिए कारगर साधन 'नाम-जप' के बारे में फ़रमाते हैं—)

यदि एक जीभ से एक लाख जीभें हो जायें। फिर वे एक लाख जीभें (भी बढ़ कर) बीस लाख हो जायें और (उन बीस लाख जीभों में से) हरेक जीभ के साथ एक परमात्मा का नाम ही लाख-लाख बार कहा जाये (अर्थात् उच्चारण किया जाये तो) इस ढंग से पति-परमेश्वर की (अर्थात् परमात्मा के महल तक, परमात्मा की हुज़ूरी में या परमात्मा के सम्मुख पहुँचाने वाली जो) पैड़ियाँ[७] (अर्थात् सीढ़ी के डण्डे हैं उन्हें) चढ़ जाने पर जीव परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है।

(परन्तु इस प्रकार किसी तरह की गिनती के चक्कर में पड़कर नाम का जप करना और यह समझना कि मैं अपने श्रम के परिणामस्वरूप परमात्मा को पा सकता हूँ तो ऐसा ही दावा करना है जैसे) आकाश की बातें सुन कर (पृथ्वी पर रेंगने वाले कीड़ों को रीस आ गयी हो। (अर्थात् कीड़ों के मन में उड़ने की इच्छा उत्पन्न हो जाये और वे आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की नकल या बराबरी करने की अभिलाषा करने लगें। परन्तु अपने बल बूते पर लाख कोशिशें करने के बाद भी वे आकाश में उड़ान भरने में सफल नहीं हो सकते क्योंकि विधाता ने उन्हें ऊँची उड़ान भरने के लिए आवश्यक पंखों की बख़्शिश नहीं की है। बिना पंखों के कीड़ों द्वारा उड़ने का प्रयास वैसा ही है जैसे हंसों को तैरते हुए देख कर यदि बगुले भी उनकी नकल करते हुए, तैरने के लिए अपने आपको जलाशय में छोड़ दें। परन्तु ऐसा करने पर बगुलों की क्या दशा होगी? सिर नीचे और टांगें ऊपर। वे बपुरे तो डूब कर मर ही जायेंगे न?[८]

---

१. एक जीभ से। २. लाख हो जायें। ३. चक्र, बार। ४. एकरूप। ५. कीड़ों को। ६. बराबरी करने की अभिलाषा। ७. आगे चलकर जपुजी साहिब की ३४ से ३७ पउड़ियों तक पांच खंडों के रूप में इन्हीं पउड़ियों का निरूपण किया गया है।

८. हंसा वेखि तरंदिआ बगा भि आया चाउ।।
डुबि मुए बग बपुड़े सिरु तलि उपरि पाउ।। सलोकु, महला ३, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ ५८५

नानक, नदरी[१] पाईऐ, कूड़ी[२], कूड़ै[३] ठीस[४] ॥ ३२॥

इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि नाम-सुमिरन निरर्थक है। नाम-सुमिरन आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी कम करने का सहज और सरल साधन है। इसमें नाम का उच्चारण करने के साथ-साथ नाम को सुनना, उसके अर्थ-भाव को समझना, विचारना और उसे अपने मन में बसाना बहुत ज़रूरी है। नाम सुमिरन करते समय अपने अहं-भाव से दूर रहना और इस साधना में प्रवृत्त होने को प्रभु की कृपा का फल मानना अति आवश्यक है। अहं भावना को खोये बिना लाखों जीभों द्वारा लाखों बार, अर्थात् गिनती का नाम-सुमिरन करने का कोई लाभ नहीं—ठीक उसी तरह जैसे प्रभु की कृपा द्वारा पंख प्राप्त किये बिना कीड़ों का आकाश में उड़ने के लिए प्रयास करना। एक बात और। प्रभु-मिलन की राह में, आत्म-विकास के कई पड़ाव पार करने के बाद ही अन्तिम मंजिल पर पहुँचा जाता है। नाम सुमिरन इस दिशा में पहला कदम है, अन्तिम पड़ाव नहीं।)

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

हे नानक! यह (परमात्मा से मिलाप की अवस्था) तो प्रभु की कृपा-दृष्टि द्वारा ही पायी जा सकती है। (परमात्मा आप कृपा करे तभी उससे मिला जा सकता है) शेष सब मिथ्याचारी लोगों की झूठी गप्पें-मात्र ही हैं। (अर्थात् जो व्यक्ति आत्मिक विकास के लिए दैवी कृपा की आवश्यकता की उपेक्षा करता है उसकी सोच नितान्त भ्रामक है, निरी कल्पना है। उस पर भरोसा नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए हमारा हर प्रयास परमात्मा की कृपा का पात्र बनने के लिए होना चाहिए न कि अपने अहं की तुष्टि करने के लिए क्योंकि दैवी कृपा के बिना मनुष्य के सभी प्रयास अधूरे हैं, असफल हैं।) ॥३२॥

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

१. प्रभु की कृपा-दृष्टि द्वारा। २. झूठी। ३. झूठे व्यक्तियों की। ४. गप्प।

आखणि[१] जोरु[२], चुपै[३] नह जोरु॥

[आम देखने में आता है कि किसी यात्रा पर जाने से पहले यात्री को कई प्रकार की तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। श्री जपुजी साहिब के प्रारंभ से ही साधक को कई प्रकार से शिक्षा-दीक्षा देकर उस आध्यात्मिक यात्रा के लिए तैयार किया गया है जिसका निरूपण आगे, ३४ से ३७ तक, चार पउड़ियों में मिलता है।

इस तैयारी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि साधक अपने मन से पूरी तरह स्वीकार कर ले कि सृष्टि का सारा कार्य-कलाप दैवी इच्छा, हुक्म अथवा विधान के अधीन चल रहा है जिसे परमात्मा ने अपनी कृपा करके बनाया है। परमात्मा की इच्छा सबसे बढ़कर है, परम है, सर्वोपरि है। अतः प्रभु की इच्छा के विरुद्ध किसी भी जीव का, कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। परन्तु, मनुष्य जो कुछ भी करता है, अपने आपको उसका कर्त्ता मान बैठता है। और, अपने इस अहंकार के कारण अपने कर्ता— वाहिगुरु, परमात्मा— को भूला रहता है। साधक को इस अहं-भावना से सदैव सचेत रहना चाहिए। सदा याद रखना चाहिए कि अहंकार और नाम अथवा परमात्मा की याद दो परस्पर विरोधी बातें हैं। अहंकार और प्रभु का नाम दोनों कभी भी एक ही स्थान पर अर्थात् एक ही मन में इकट्ठे नहीं रह सकते।[४]

बत्तीसवीं पउड़ी के अन्त में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि प्रभु से मिलाप केवल उसकी कृपा द्वारा ही सम्भव है। इसलिए जो व्यक्ति अपने सामर्थ्य के आधार पर आत्म-विकास की यात्रा पर चलने और उसे पूरा करने का दम भरता है, वह इस यात्रा के प्रथम सोपान पर पग धरने में भी सफल नहीं हो सकता। अभिमान-रहित होना इस यात्रा की पहली शर्त है। इस यात्रा पर जाने से पहले साधक को अपने सामर्थ्य संबंधी हर प्रकार की ग़लत धारणाओं अथवा ग़लतफ़हमियों को अपने दिल और दिमाग़ से निकाल फेंकना चाहिए। मनुष्य की मनोवृत्ति में ऐसा बदलाव लाने के लिए इस तेंतीसवीं पउड़ी में एक बार फिर परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता के मुकाबले में मनुष्य के बल की तुच्छता का बोध कराया गया है।]

बोलने (या कुछ कहने) में और चुप रहने (कुछ न कहने या मौन धारण कर लेने) में भी हमारा (अर्थात् किसी भी जीव का) अपना कोई बल नहीं है (इसका भाव यह है कि हमें बोलने और चुप रहने की सामर्थ्य परमात्मा द्वारा ही दी हुई है)।

---

१. कहने या बोलने में। २. बल, अधिकार। ३. चुप रहने में।

४ हउमै नावै नालि विरोधु है, दुइ न वसहि इक ठाइ॥ वडहंसु, महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ५६०

जोरु न मंगणि, देणि न जोरु॥
जोरु न जीवणि, मरणि नह जोरु॥
जोरु न राजि[१], मालि[२], मनि सोरु[३]॥
जोरु न सुरती[४], गिआनि वीचारि॥
जोरु न जुगती[५], छुटै[६] संसारु॥

मांगने (अर्थात् किसी प्रकार की कोई याचना करने) में हमारी कोई सामर्थ्य नहीं और न ही किसी को कुछ देने में हमारा अपना कोई ज़ोर अथवा इख़्तियार है। (हमें जो भी कुछ मिलता है अथवा हमारे द्वारा किसी को जो कुछ दिया जाता है वह हमारे इख़्तियार या मरज़ी पर निर्भर नहीं करता परमात्मा की कृपा पर निर्भर करता है।)

न तो जीवन जीने (या बिताने) में जीव का कोई इख़्तियार है और न मरने में ही जीव का कोई इख़्तियार है। (जीना या मरना किसी के अपने वश की बात नहीं है। हरि द्वारा भेजे जाने पर जीव संसार में आकर जन्म लेते हैं और बुला लिये जाने पर तुरन्त देह-त्याग कर वापस चले जाते हैं।[७])

हुकूमत या धन-दौलत आदि को पाने में भी जीव का कोई बल नहीं है जिस (राज्य और धन-पदार्थ आदि को प्राप्त करने) के लिए मन में सदा खलबली मची रहती है। (अर्थात् जिस धन और ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य बेचैन रहता है वे भी परमात्मा की कृपा से ही मिलते हैं। मनुष्य इन्हें अपनी मरज़ी से प्राप्त नहीं कर सकता चाहे उनके लिए जितना मरज़ी छटपटाता रहे।)

[इस पउड़ी में यहाँ तक यह बताया गया है कि परमात्मा के अनुग्रह के बिना जीव अपने बल से कोई भी सांसारिक पदार्थ, शक्ति अथवा योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। अब अगली पंक्तियों में श्री गुरु जी बताते हैं कि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी परमात्मा की कृपा के बिना कुछ भी प्राप्त कर सकना संभव नहीं है।]

सुनने में, और ज्ञान प्राप्त करने में तथा विचार अथवा चिन्तन करने में भी किसी जीव की अपनी कोई सामर्थ्य नहीं है। (अर्थात् सुनने और विचार करने की शक्ति भी परमात्मा द्वारा ही दी हुई है।)

कोई ऐसी युक्ति खोजने, जानने, प्राप्त करने अथवा अपनाने में भी किसी का ज़ोर

---

१. प्रभुत्व, हुकूमत। २. धन-दौलत ३. शोर, कोलाहल। ४. श्रुति, सुनने की शक्ति या क्रिया। ५. युक्ति, तदबीर। ६. छूट जाये।

७. घले आवहि नानका सदे उठी जाहि॥ सारंग की वार, महला ४, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ १२३९

जिसु हथि[1] जोरु, करि[2] वेखै सोइ[3]॥

नानक, उतमु नीचु न कोइ॥ ३३॥

या वश नहीं चलता, जिस द्वारा संसार छूट जाये (अर्थात् भव-बन्धन से छुटकारा मिल सके अथवा जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति प्राप्त हो सके)।

(सच्चाई यह है कि) जिस(सर्वनियन्ता, परब्रह्म परमात्मा) के हाथ अथवा वश में (सब प्रकार का) बल है वह आप ही सारी रचना करके उसकी देखरेख अथवा सम्भाल करता है। (अर्थात् समूचा बल परमात्मा का ही है। सृष्टि में सब जगह केवल परमात्मा की शक्ति ही काम कर रही है। संसार में काम करनेवाली सभी शक्तियाँ परमात्मा की ही देन हैं। अत: किसी जीव की अपनी कोई स्वतन्त्र सामर्थ्य नहीं है।)

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आप को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

हे नानक! (अपने आप में अर्थात् अपनी मरज़ी या बल से) कोई भी उत्तम या नीच (अच्छा या बुरा) नहीं है। (इसका भाव यह है कि जीवों का अच्छा या बुरा होना अथवा बनना भी सर्वसमर्थ परमात्मा के सर्वव्यापी विधान के अधीन है।)॥३३॥

[इस पउड़ी में इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया है कि अपने आपमें मनुष्य कुछ भी नहीं है। उसके पास मन, मस्तिष्क और इन्द्रियों आदि की जो सामर्थ्य है वह सब उसके कर्त्ता, वाहिगुरु द्वारा उस पर की गयी बख़्शिश का फल है। अत: प्रभु की कृपा के बिना मनुष्य नितान्त नगण्य है, तुच्छ है, नाचीज़ है; अशक्त और लाचार है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन में इस सच्चाई को अच्छी तरह दृढ़ कर ले कि उसे जो कुछ भी प्राप्त होता है वह उसके अपने बल के कारण नहीं होता। वास्तव में मनुष्य हर तरह से परमात्मा का मुहताज है।

कोई भी व्यक्ति, प्रभु की कृपा के बिना, केवल अपने जप, तप अथवा अन्य साधनाओं के बल पर परमात्मा की निकटता प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए ज़रूरी है कि हर मनुष्य परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए, परमात्मा के हुक्म अथवा मरज़ी के अनुसार, परमात्मा की निरन्तर याद तथा हुज़ूरी में जीवन बिताने का प्रयास करता रहे ताकि वह दर्जा-ब-दर्जा मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति अथवा प्रभु-मिलन की ओर बढ़ता चला जाये।]

---

१. हाथ में, वश में। २. करके। ३. वह ही।

पाँच खण्ड

चौंतीसवीं पउड़ी से श्री जपुजी साहिब का अंतिम भाग शुरू होता है। तेंतीसवीं पउड़ी तक दी गयी शिक्षा-दीक्षा इस भाग का आधार है। इसलिए आगे बढ़ने से पहले यहाँ तक दिये गये उपदेश का अति संक्षेप दोहराव कर लेना लाभदायक रहेगा।

'मंगलाचरण' में वाहिगुरु अथवा परब्रह्म, परमात्मा को गुरु मानकर उसके स्वरूप का सूत्रात्मक निरूपण किया गया है। 'आदि श्लोक' में उसे 'सचु' या सत्य संज्ञा देकर उसकी शाश्वत सत्ता को रेखांकित किया गया है। इसके उपरान्त परब्रह्म, वाहिगुरु की प्राप्ति के लिए विभिन्न मत-मतान्तरों द्वारा अपनाये जाने वाले कुछ ढंग-तरीकों की आलोचना की गयी है और उन्हें अस्वीकार करके केवल प्रभु की रज़ा और हुक्म अथवा विधान के अनुसार जीवन बिताने को ही परमात्मा की प्राप्ति का सबसे उत्तम ढंग बताया गया है। यह ऐसा तरीका है जिसे अपनाकर कोई भी व्यक्ति परब्रह्म, वाहिगुरु की कृपा द्वारा उससे मिलाप प्राप्त कर सकता है, सचिआर (= सत्य + आकार) बन सकता है।

सृष्टि की असीम विशालता का बहुविध वर्णन करके उसके एकमात्र कर्त्ता, कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु की सर्वशक्तिमत्ता की गहरी छाप मानव मन पर बैठायी गयी है। परमात्मा की सर्वोच्चता प्रकट करने के लिए अवतारों, देवताओं, पवन, पानी आदि तत्त्वों को भी उसके द्वार पर उसकी स्तुति करते हुए दिखाया गया है। इस विवरण से स्पष्ट तौर पर पता चल जाता है इस जगत् रूपी प्रपंच में मनुष्य की क्या बिसात है। इसीलिए निरहंकार होकर, सबके मालिक, केवल एक वाहिगुरु की कृपा-दृष्टि का पात्र बनने के लिए निरन्तर प्रयास करने, उसकी याद को सदा मन में बसाये रखने का सदुपदेश दिया गया है।

गुरुमत दर्शन के अनुसार नाम-जप अथवा नाम-सुमिरन ही प्रभु-मिलन का सर्वोपरि, सरल, सहज और सफल साधन है।[१] इस साधन को सच्चे दिल से अपना लेने

---

१. प्रभ का सिमरनु सभ ते ऊचा॥
प्रभ कै सिमरनि उधरे मूचा॥ गउड़ी मुखमनी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २६३

सासत सिंम्रिति बेद बीचारे महा पुरखन इउ कहिआ॥
बिनु हरि भजन नाही निसतारा सूखु न किनहूं लहिआ॥१॥ गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ २१५

खाणा पीणा हसणा बादि॥
जब लगु रिदै न आवहि यादि ॥१॥ आसा, महला १, वही, पृष्ठ ३५१

पर प्रभु-मिलन का रास्ता प्रशस्त हो सकता है, मोक्ष-द्वार खुल सकता है। परन्तु यह सारी शिक्षा-दीक्षा केवल फ़लसफ़ा ही नहीं है और न ही यह केवल दिमाग़ी कसरत अथवा ऊहापोह के लिए है। इस पर आचरण करना, इसे अमल में लाना, बहुत ही ज़रूरी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरुमत दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है। इसके अनुसार सब कुछ सत्य से नीचा है और यदि सत्य से कुछ ऊँचा है तो वह है सत्य के अनुसार आचरण करना।[१] किसी सच्चाई को जान लेना बड़ी बात है परन्तु उस सच्चाई को अपनाकर उसके अनुसार आचरण करना उससे भी बड़ी बात है। इसलिए अपनी आत्मा का विकास किये बिना अथवा व्यक्तिगत आचरण को सुधारकर अपेक्षित ऊँचाई तक पहुँचाये बिना किसी विचारधारा के अनुयायी होने का दावा करना मात्र दिखावा बन कर रह जाता है। जैसा कि पहले भी कहा गया है गुरुमत एक व्यावहारिक दर्शन है। इसमें अमली अथवा व्यावहारिक जीवन पर ज़ोर दिया गया है।[२] जो व्यक्ति गुरुवाणी के अनुसार जीवन बिताता है— गुरुवाणी में दिये उपदेश को अमल में लाता है— वही प्रभु-कृपा से आत्म-विकास के मार्ग पर बिना बाधा आगे बढ़ सकता है।

बत्तीसवीं पउड़ी में प्रभु मिलन की पैड़ियों की ओर संकेत किया गया है।[३] यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी ज़रूरी है कि ये पैड़ियाँ किसी स्थूल या भौतिक सीढ़ी, ज़ीने आदि के डंडे नहीं हैं। इन पर चढ़ना भी कोई शारीरिक क्रिया न होकर एक मानसिक प्रक्रिया है। इन पउड़ियों पर चढ़कर जीव ने, परमात्मा से मिलने के लिए, जो दूरी तय करनी है वह दो बिन्दुओं, स्थानों, शहरों या देशों आदि के बीच की दूरी की तरह नहीं है। यह दूरी तो जीव के अहंभाव के कारण अपने कर्त्ता वाहिगुरु से बिछोड़े अथवा वियोग की अवस्था की प्रतीक है। अत: यह दूरी अहंभाव के प्रभाव स्वरूप जीव द्वारा अपने मूल को भूल जाने के कारण, अपने वास्तविक स्वरूप से पड़े अन्तर का दूसरा नाम है। जीव और परमात्मा के बीच की जो दूरी है उसका कारण भँभीरी के पंख की तरह एक पारभासी (translucent) पर्दा है। इस पर्दे के बीच में से

१. मन हठ बुधी केतीआ केते बेद बीचार॥ केते बंधन जीअ के गुरमुखि मोख दुआरु॥
सचहु ओरै सभु को उपरि सचु आचारु ॥५॥ सिरीरागु, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६२

२. जह करणी तह पूरी मति॥ करणी बाझहु घटे घटि॥ सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ २५.

बिनु करतूती मुकति न पाईऐ॥
मुकति पदारथु नामु धिआईऐ॥ १ ॥रहाउ॥ गउड़ी, महला, ५, वही, पृष्ठ २०१

३. ऐतु राहि पति पवड़ीआ, चड़ीऐ होइ इकीस॥
सुणि गला आकास की, कीटा आई रीस॥ श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ७

ध्यानपूर्वक देखने से अपने मूल का साक्षात्कार किया जा सकता है और उसमें स्थित हुआ जा सकता है।[१]

उपरोक्त पैड़ियों को 'खंड' नाम देकर ३४ से ३७ पउड़ी तक इनका निरूपण किया गया है। इन खंडों की संख्या पाँच है। इनके नाम क्रमश: 'धर्म खंड', 'ज्ञान खंड', 'सरम खंड', 'करम खंड' और 'सच खंड' हैं। 'सच खंड' आत्मिक यात्रा का अन्तिम पड़ाव है। इस पड़ाव पर पहुँचे हुए साधक का परमात्मा से मिलाप हो जाता है। आगे बढ़ने से पहले इन 'खण्डों' के बारे में कुछ आरम्भिक विचार कर लेना ज़रूरी लगता है।

सबसे पहले यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि ये खंड किन्हीं भौतिक अथवा भौगोलिक ठिकानों या जगहों के नाम नहीं हैं। सारी सृष्टि में कहीं भी ये खंड स्थूल रूप में विद्यमान नहीं हैं। वास्तव में इनका सम्बन्ध मनुष्य के अन्त:करण के साथ है।[२] ये साधक के चैतन्य-विकास, मानसिक अथवा आत्मिक विकास के दर्जों या अवस्थाओं के नाम हैं।

'धर्म खंड' से लेकर 'सच खंड' तक के क्रमिक विकास को आम तौर पर तरतीबवार नीचे से ऊपर चढ़ते जाने की प्रक्रिया द्वारा बयान किया जाता है। परन्तु, वास्तव में, यह अपने अन्दर उतरते जाने की प्रक्रिया है। साधक ने वाहिगुरु की खोज कहीं बाहर नहीं, अपने अन्दर ही करनी है।[३] आध्यात्मिक साधना एक आन्तरिक यात्रा

१. हउ हउ भीति भइओ है बीचो सुनत देसि निकटाइओ।।
भांभीरी के पात पारदो बिनु पेखे दूराइओ ।।३ ।।सोरठ, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६२४

२. ममा मन सिउ काजु है, मन साधे सिधि होइ।।
मन ही मन सिउ कहै कबीरा मन सा मिलिआ न कोइ।।३२।।
गउड़ी बावन अखरी, कबीर जी, वही, पृष्ठ ३४२

मेरे मन मन ही उलटि समाना।।
गुरपरसादि अकलि भई अवरै नातरु था बेगाना।। गउड़ी बैरागणि, कबीर जी, वही, पृष्ठ ३३३

कूटनु सोइ जु मन कउ कूटै।। मन कूटै तउ जम ते छूटै।।
कुटि कुटि मनु कसवटी लावै।। सो कूटनु मुकति बहु पावै।।१।। गोंड, कबीर जी, वही, पृष्ठ ८७१।।

३. बाहरि ढूढन ते छूटि परे गुरि घर ही माहि दिखाइआ था।।
अनभउ अचरज रूपु प्रभ पेखिआ,
मेरा मनु छोडि न कतहू जाइआ था।।१।। मारू, महला ५, वही, पृष्ठ १००२

काहे रे बन खोजन जाई।। सरब निवासी सदा अलेपा तोही संगि समाई।।१।।रहाउ।।
पुहप मधि जिउ बासु बसतु है मुकर माहि जैसे छाई।।
तैसे ही हरि बसे निरंतरि घट ही खोजहु भाई।।१।। धनासरी, महला ९, वही, पृ. ६८४

है जो मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हर गुरुमुख साधक को करनी पड़ती है। इन पांच खंडों को इस यात्रा के पड़ाव भी कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये खंड चैतन्य-विकास अथवा आत्मिक विकास के पाँच पड़ाव या स्तर हैं जिनमें से हर आध्यात्मिक पथ के राही को गुज़रना पड़ता है।

आम तौर पर साधक का आत्मिक विकास क्रमिक होता है। इस रास्ते पर साधक धीरे-धीरे, सहज रूप से, पड़ाव-दर-पड़ाव आगे बढ़ता है। यह प्रगति या प्रगमन सीढ़ी पर चढ़ने की तरह क्रमबद्ध है। इस सन्दर्भ में सीढ़ी का प्रतीक इसलिए बरता जाता है क्योंकि जैसे सीढ़ी के डण्डे एक के बाद एक करके लगे होते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक पथ पर विकास के दर्जे या विकास की अवस्थाएँ क्रमबद्ध होती हैं। अत: इन पाँच खण्डों में से हरेक खण्ड साधक के आत्मिक विकास के नए स्तर का प्रतीक है।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि देखने वाले को सीढ़ी के डण्डे एक दूसरे से अलग नज़र आते हैं परन्तु वास्तव में वे एक दूसरे से कटे हुए नहीं होते। वे आपस में जुड़े हुए होते हैं। इसी प्रकार ये पाँचों खंड भी अलग-अलग लगते हैं परन्तु वास्तव में आपस में जुड़े हुए हैं। खंडों का आपस में जुड़े होने का भाव यह है कि जहाँ एक खंड पूरा होता है वहीं से अगला खंड शुरू होता है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि एक खंड की पूर्णता में ही आगे के आत्मिक विकास की सम्भावना निहित होती है।

सच्चे मन से, पूरी तरह समर्पित होकर किये गये निरन्तर एवं अथक उद्यम तथा प्रभु-कृपा से साधक को एक-एक करके इन खंडों अथवा अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त होता है। सच खंड से पहले की चार अवस्थाओं को प्रभु-मिलन से पहले की आवश्यक तैयारी भी कहा जा सकता है। करम खंड से सच खंड में प्रवेश अथवा प्रभु-मिलन अचानक होता है। जिस मिलन के लिए साधक दीर्घकाल से तिल-तिल विह्वल हो रहा होता है और एक निमिष या एक पल पहले तक उसे जिस अपूर्व एवं अद्भुत मिलन की भनक तक नहीं होती, वह अचानक हो जाता है। इसके बाद साधक साध्य का रूप हो जाता है।[१]

---

१. गुर किरपा जिह नर कउ कीनी, तिह इह जुगति पछानी॥
नानक लीन भइओ गोबिंद सिउ, जिउ पानी संगि पानी॥३॥११॥
सोरठि, महला ९, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६३३

अब तउ जाइ चढे सिंघासनि, मिले है सारिंगपानी॥
राम कबीरा एक भए है, कोइ न सकै पछानी॥ रामकली, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ ९६९

यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत कर देना भी बहुत ज़रूरी है कि प्रभु परमात्मा से मिलाप अथवा प्रभु-दर्शन साधक के अपने परिश्रम का फल नहीं होता। मन में परमार्थ के बारे में विचार आना भी प्रभु की कृपा का संकेत है। श्री जपुजी साहिब की तेंतीसवीं पउड़ी में यह सच्चाई दृढ़ करायी गयी है कि परमात्मा की कृपा के बिना न तो कोई सांसारिक प्राप्ति सम्भव है और न पारमार्थिक ही। हाँ यह सर्वथा सत्य है कि पारमार्थिक पथ का राही बनने और उस पर चलते रहने के लिए आवश्यक उद्यम या परिश्रम जिज्ञासु को आप ही करना पड़ता है। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की हुई साधना का फल उसे नहीं मिल सकता। यह भी सत्य है कि इस राह पर चलते रहने से जो फल प्राप्त होता है उसका कारण केवल साधक द्वारा किया हुआ परिश्रम ही नहीं है। घोरातिघोर साधना करने पर भी कोई किसी प्रकार के फल पर अपना दावा नहीं कर सकता। आध्यात्मिक साधना का कोई फल क्यों और कैसे प्राप्त होता है यह एक रहस्य है। इस रहस्य को केवल सर्व-फल-प्रदाता परमात्मा ही जानता है। किसी को, कभी भी, जो कुछ भी प्राप्त होता है प्रभु की कृपा से ही प्राप्त होता है। साधक तो केवल दत्तचित्त होकर सच्चे दिल से, पूरी ईमानदारी और श्रद्धा से, सुमिरन द्वारा प्रभु की हुज़ूरी में जीवन जीने और प्रभु के हाथ की कठपुतली बने रहने का निरभिमान प्रयास ही कर सकता है।

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

राती[१], रुती[२], थिती[३], वार[४]॥
पवण, पाणी, अगनी, पाताल॥
तिसु विचि, धरती थापि रखी धरमसाल[५]॥
तिसु विचि, जीअ[६] जुगति[७] के रंग॥
तिन के नाम, अनेक अनंत॥
करमी करमी[८], होइ वीचारु॥
सचा आपि, सचा दरबारु[९]॥

(इस, चौंतीसवीं पउड़ी में श्री गुरु जी, आध्यात्मिक यात्रा के पहले पड़ाव, 'धर्म-खंड' का निरूपण करते हुए फ़रमाते हैं—)

उस कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु ने अपनी रचना में रातें, ऋतुएँ, तिथियाँ और दिन (अर्थात् सूर्य, जिसके कारण दिन, रात और ऋतुएँ बनती हैं; चन्द्रमा, जिससे चाँद्रमास —lunar month— की तिथियों की गिनती की जाती है, ग्रह आदि, जिनके नामों पर सप्ताह के दिनों के नाम रखे गये हैं और जीवन को कायम रखने के लिए ज़रूरी तत्त्व एवं परिवेश) वायु, पानी, अग्नि तथा आकाश और पाताल आदि बनाये। और, उस समूह या समुच्चय (अर्थात् देश-काल के ढाँचे) के दरमियान धरती को एक धर्मशाला बना कर टिका रखा है (जहाँ जीव अपना धर्म कमाने के लिए आकर ठहरते हैं)।

उस धर्मशाला में (अर्थात् इस धरती पर) कई (अर्थात् अनगिनत प्रकार की) युक्तियों और रंगों के जीव (रहते) हैं। उनके नाम भी अनेक (अथवा विविध प्रकार के) हैं, अनन्त हैं (बेशुमार हैं)।

(धरती-रूपी धर्मशाला में रहने के कारण अपने कर्त्तव्य का पालन करना इन सब भाँति-भाँति के अनगिनत नामों वाले जीवों के आचरण और नियति का आवश्यक अङ्ग है। वे अटल दैवी-नियम में बंधे हुए हैं। इसलिए उनके अपने-अपने किये हुए) कर्मों के अनुसार ही परमात्मा के दरबार अथवा न्याय-सभा में विचार या परख की जाती है।[१०] (वहाँ प्रभु के दरबार में जीवों के कर्मों के फल का निर्णय करते समय[११]

१. रातें। २. ऋतुएँ। ३. तिथियाँ। ४. दिन। ५. धर्मशाला। ६. जीव। ७. रंग-ढंग, भाँति। ८. कर्मों के अनुसार।
९. अदालत, न्याय-सभा।
१०. जेते जीअ लिखी सिरि कार॥
करणी उपरि होवगि सार॥ बसंतु, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ११६९
११. कर्म सिद्धान्त' की संक्षिप्त जानकारी के लिए देखिये परिशिष्ट-४

तिथै सोहनि, पंच परवाणु॥
नदरी[१] करमि, पवै नीसाणु[२]॥
कच[३] पकाई[४], ओथै[५] पाइ।।
नानक, गइआ, जापै जाइ।। ३४।।

किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाता और न ही वहाँ किसी प्रकार की सिफारिश चल सकती है, क्योंकि) परमात्मा आप सच्चा (सत्य रूप) है और (जहाँ वह जीवों के कर्मों को परख कर, न्याय-निर्णय करता है, परमात्मा का वह) दरबार भी सच्चा है।[६]

(नाम का श्रवण, मनन तथा ध्यान आदि करके जो जीव दैवी कसौटी पर पूरे उतरकर प्रभु की दृष्टि में स्वीकृत होते हैं, वे पंच कहलाते हैं। ऐसे वे हरि प्रभु से मान्यता प्राप्त अथवा) अनुमत पंच वहाँ (अर्थात् हरि-प्रभु को उस सच्चे दरबार में) शोभा देते हैं।

(इस उच्च अवस्था को प्राप्त होने वाले जीवों को) प्रभु की कृपा का चिह्न प्राप्त होता है (अर्थात् उन पर परमात्मा की स्वीकृति की मोहर अथवा छाप लग जाती है)।

(इस संसार में रहते हुए कोई भी व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त अथवा पहुँचा हुआ धर्मात्मा होने का दावा और दिखावा कर सकता है। परन्तु इस संसार में किसी को पूरा या अधूरा कहने कहलाने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि किसी व्यक्ति) की कच्चाई या पक्काई (अर्थात् कोई व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर चुका है या अभी अधूरा है, इस तथ्य) का पता वहाँ परमात्मा के दरबार में, जाकर ही लगता है।

(पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (परमात्मा के दर पर) पहुँचने पर ही पता चलता है (अर्थात् यह जाना जाता है कि वास्तव में कौन पक्का है और कौन कच्चा, कौन पूरा है और कौन अधूरा)॥ ३४॥

[इस पउड़ी में धरती को धर्मशाला कहा गया है। ज़रा ध्यान से विचार करें तो मालूम होता है कि धरती कई अर्थों में एक धर्मशाला ही है।

पहली बात तो यह है कि धरती 'धर्म कमाने का स्थान है।' 'धर्म' शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ है—'किसी वस्तु का वह मूलभूत गुण, विशेषता या स्वभाव जिससे

१.परमात्मा की कृपा-दृष्टि से। २. चिह्न, मोहर। ३.कच्चाई, कच्चापन। ४.पक्काई, पक्कापन। ५. वहाँ।
६. किसी मुकद्दमे का फ़ैसला करने के लिए सांसारिक अदालतें सबूतों और गवाहों पर निर्भर करती हैं। इसलिए सम्भव है कि कुछ हालतों में निर्दोष व्यक्तियों को दण्ड मिल जाये और असली दोषी बरी हो जायें। परन्तु उस निराकार न्यायमूर्ति के दरबार अथवा अदालत में ऐसा होना पूरी तरह असम्भव है। उसकी अदालत का चलन बड़ा ही विलक्षण है। निर्णय करने के लिए वहाँ किसी साक्षी, प्रमाण अथवा पूर्व-दृष्टान्त (precedent) आदि की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। वहाँ का न्यायाधीश, वाहिगुरु अन्तर्यामी है। वह सब के मन की जानता है। हरेक जीव के हर, प्रत्यक्ष और परोक्ष, कर्म का साक्षी वह आप है। उससे कुछ भी, किसी भी तरह, छिपा सकना असम्भव है।

उसकी पहचान होती है और जो उससे कभी अलग नहीं किया जा सकता', जैसे आग का धर्म जलाना है और बूँद का धर्म समुद्र में समा कर उससे एक हो जाना है। इसी प्रकार आत्मा का धर्म परमात्मा से एकरूप होना है। यही कारण है कि मनुष्य को अपने असली रूप, ज्योति-स्वरूप आत्मा और उसके मूल परमात्मा को पहचानकर जोत में जोत समाने, अर्थात् आत्मा को परमात्मा से मिलाकर उससे एकरूप करने अथवा सचिआर (=सत्य + आकार) बनने के लिए आवश्यक साधना करने के लिए अर्थात् अपना धर्म कमाने के लिए, धरती रूपी धर्मशाला में आना पड़ता है।

इस संदर्भ में दूसरी विचारणीय बात यह है कि सृष्टि में दैवी विधान के अधीन बने नियमों का राज्य है। कारण-कार्य (cause and effect) का जो धर्म अथवा नियम रात, दिन, पवन, पानी, ऋतुओं आदि पर लागू होता है, वही नियम धरती की हरेक वस्तु और जीव पर भी लागू होता है। कर्म-फल का सिद्धान्त भी कारण-कार्य अथवा कार्य-कारण के नियम का ही दूसरा रूप है। इस कर्म-फल के सिद्धान्त के अनुसार अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के फल भोगने के लिए तथा और नये कर्म करने के लिए जीव धरती रूपी धर्मशाला में आते हैं।

इस सन्दर्भ में तीसरी बात यह है कि जैसे नाना प्रकार के यात्री किसी सराय या धर्मशाला अथवा मुसाफ़िरखाने में आकर कुछ समय के लिए ठहरते हैं और फिर अपनी मंज़िल की ओर बढ़ जाते हैं, ठीक उसी तरह भिन्न-भिन्न तरह के जीव इस धरती पर कुछ अवधि के लिए आते हैं और अपने-अपने ठहराव का निश्चित समय पूरा करके यहाँ से कूच कर जाते हैं। यह धरती किसी भी जीव का पक्का ठिकाना नहीं है। यह तो मनुष्य की जन्म-जन्मान्तरों की लम्बी यात्रा में मात्र एक पड़ाव है। इसलिए धरती एक विशाल धर्मशाला है।

धरती को धर्मशाला कहने से यह भी ध्वनित होता है— इस से यह भी व्यंग्य अथवा गूढ़ अर्थ प्रकट होता है—कि मनुष्य ने अपने आचरण द्वारा धरती को धर्मशाला, अथवा धर्माचरण का स्थान, बनाना है; अपनी संसार-यात्रा के दौरान हर समय प्रभु-मिलन के लिए प्रयास करते रहना है। साथ ही इसका यह अर्थ भी है कि धरती को सदा धर्मशाला, अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा में कुछ समय बिताने के लिए मात्र एक और पड़ाव या विराम-स्थल (halting-place) ही समझना है, अपना पक्का ठिकाना नहीं समझना। संसार में रहते हुए, सभी प्रकार के ज़रूरी कार्य करते हुए भी, इसमें खचित नहीं होना है। अपने आपको यहाँ खोकर मानव जीवन के लक्ष्य को भूल नहीं जाना है। जिस प्रकार पानी में रहते हुए भी कमल का फूल और मुर्गाबी पानी को अपने ऊपर टिकने नहीं देते और अपने आपको पानी में भीगने नहीं देते, उसी प्रकार मनुष्य ने गृहस्थ आदि की जिम्मेदारियाँ निबाहते हुए भी संसार के प्रति उदासीन या तटस्थ रहना है; माया-मोह के कीचड़ से निर्लेप रहना है।]

[पिछली पउड़ी में मनुष्य की उस मानसिक स्थिति का वर्णन किया गया है जब वह सृष्टि को ज़रा सूक्ष्म दृष्टि से देखकर सोचने लगता है कि यह सृष्टि कहाँ से और कैसे पैदा हुई? इस सृष्टि और मनुष्य की उत्पत्ति का प्रयोजन क्या है? तब दीर्घ विचार-विमर्श और नाम-साधना के परिणामस्वरूप उसे पता चलता है कि कर्ता पुरुष, वाहिगुरु ने यह सब रचना की है। उसी ने देश-काल की व्यवस्था करके उनमें धरती को एक विशाल धर्मशाला के रूप में स्थापित किया है। यह धर्मशाला इसलिए बनायी गई है ताकि यहाँ आकर जीव अपने धर्म का पालन कर सकें।

वह यह भी अनुभव करता है कि प्रकृति की हरेक शक्ति, पिंड, पदार्थ आदि अपना नियत कार्य नियमित रूप से करते चले जा रहे हैं। इस विविध-रूपा सृष्टि में मनुष्य को समय और स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जीना पड़ता है। परन्तु मनुष्य जिस भी स्थिति या हैसियत में हो उसे, प्रभु द्वारा प्रदत्त समझ-सूझ और योग्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। परन्तु कर्त्तव्य का पालन करते समय भी उसका ध्यान मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति पर टिका रहना चाहिए।

उसे यह भी पता चल जाता है कि सृष्टि में सर्वत्र कार्य-कारण (cause and effect) का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। उसी प्रकार जीवों पर कर्म-सिद्धान्त लागू होता है। यहाँ, धरती रूपी धर्मशाला में, ठहराव के दौरान जीवों द्वारा किये गये कर्मों का लेखा-जोखा प्रभु-परमात्मा के सच्चे दरबार में होता है। हरेक जीव को अपने कर्मों का फल-अवश्य भुगतना पड़ता है। परमात्मा सब कुछ और सब का साक्षी है। परम न्यायशील होने के कारण वह किसी के साथ अन्याय नहीं करता।

मनुष्य के जीवन में प्रभु-कृपा के महत्त्व को रेखांकित करने के लिए यह भी बताया गया है कि 'पंच' जन, अर्थात् परमात्मा के नाम का सुमिरन, मनन आदि करने वाले वे जीव जिन्हें प्रभु-कृपा प्राप्त हो गयी है, परमात्मा के दरबार में शोभित होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि केवल शुभ-कर्मों अथवा कर्म-काण्ड आदि की सहायता से मानव जीवन के लक्ष्य, प्रभु-मिलन, की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गुरुमत विचारधारा के अनुसार इस प्रयोजन के लिए नाम-साधना अनिवार्य है।[१]

---

१. सुइने का चउका कंचन कुआर।। रुपे कीआ कारा बहुतु बिसथारु।।
गंगा का उदकु करंते की आगि।। गरुड़ा खाणा दुध सिउ गाडि ॥१॥
रे मन लेखै कबहू न पाइ। जामि न भीजै साच नाइ ॥१॥ रहाउ॥
बसंतु, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ११६८-६९

गनि मिनि देखहु सगल बीचारि।। नाम बिना को सकै न तारि।। रामकली, महला-५, वही, पृष्ठ ८९३

जिसु नामु रिदै तिनि कोटि धन पाए।। नाम बिना जनमु बिरथा जाए।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११५५

धरम खंड का, एहो[१] धरमु॥
गिआन खंड का, आखहु[२] करमु॥

नाम-सुमिरन ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है और सबसे निर्मल कर्म भी यही है।[३]]

(अब, इस पैंतीसवीं पउड़ी में, श्री गुरु जी आत्म-विकास की दूसरी अवस्था, ज्ञान-खंड का निरूपण करते हुए फ़रमाते हैं—)

धर्मखण्ड का यही धर्म अथवा नियम है। (अर्थात् जो पीछे, चौंतीसवीं पउड़ी में बताया गया है वही धर्म खण्ड का सिद्धान्त, लक्षण या स्वरूप है।

धर्म खण्ड के स्वरूप का बोध हो जाने पर साधक मनुष्य-जीवन के उद्देश्य के बारे में सोचता है[४] और उसकी प्राप्ति के लिए संजीदगी या गंभीरता से कर्त्तव्य-पालन तथा धर्म-आचरण में लग जाता है। इसके फलस्वरूप वह आत्मिक विकास की जिस अगली भूमिका अथवा अवस्था में प्रविष्ट होता है उसका नाम ज्ञान-खण्ड है। इसलिए निवेदन है कि अब उसी) ज्ञान खण्ड के कर्म अथवा करतब का कथन कीजिये। (अर्थात् यह बताइये कि ज्ञान-खंड का क्या चलन है? ज्ञान खंड में क्या होता है?[५])

[धर्म खण्ड में साधक का ज्ञान सीमित होता है। वह इतना ही जानता है, कि परमात्मा के दरबार में जीवों की परख करके उन्हें दण्ड या पुरस्कार दिया जाता है और यह कि 'पंच' वहाँ शोभा पाते हैं। ज्ञान खण्ड की अवस्था में ज्ञान का प्रकाश साधक के

---

१. यही। २. कहो, बताओ।

३. सरब धरम महि स्रेसट धरमु॥
हरि को नामु जपि निरमल करमु॥ गउड़ी सुखमनी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २६६
करम धरम सचु साचा नाउ॥ आसा, महला १, वही, पृष्ठ ३५३
जपि जन सदा सदा दिनु रैणी॥ सभ ते ऊच निरमल इह करणी॥
गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २८३

४. भई परापति मानुख देहुरीआ॥
गोबिंद मिलण की इह तेरी बरीआ॥ रागु आसा, महला ५, वही, पृष्ठ १२

५. इन दो पंक्तियों में से पहली पंक्ति में 'धर्म-खण्ड' का सिंहावलोकन किया गया है; अर्थात्, आगे बढ़ने से पहले पिछली पउड़ी में कही गयी बातों को अति संक्षेप रूप में दोहराया गया है। दूसरी पंक्ति में ज्ञान-खण्ड के बारे में उत्सुकता प्रकट करके उसके लिए भूमिका तैयार की गयी है। इन दो पंक्तियों से यह भी संकेत मिलता है कि अलग-अलग होने पर भी ये दोनों खण्ड आपस में जुड़े हुए हैं। धर्म खण्ड की पराकाष्ठा ही ज्ञान खण्ड का आरम्भ है।

केते पवण पाणी वैसंतर, केते कान[१] महेस॥
केते बरमे, घाड़ति[२] घड़ीअहि, रूप रंग के वेस॥
केतीआ करम भूमी, मेर[३] केते, केते धू[४] उपदेस॥
केते इंद, चंद सूर[५] केते, केते मंडल[६] देस॥

अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश कर देता है। साधक के 'कपाट खुल जाते हैं'—उसका विवेक अथवा यथार्थ ज्ञान जाग्रत हो जाता है। कर्ता पुरुष, वाहिगुरु की रचना का विराट रूप उसके मन की आँखों के सामने फैल जाता है। वह प्रकृति की हरेक वस्तु को असीम अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि सृष्टि की हरेक चीज़ और हरेक क्रिया के पीछे एक ब्रह्माण्डीय बुद्धि अथवा चेतना काम कर रही है। इस सत्य का बोध या अनुभूति ही वास्तविक ज्ञान है। इस ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर साधक दृश्यमान के पीछे की वास्तविकता की झलक प्राप्त कर लेता है।]

(इसके फलस्वरूप ज्ञान खण्ड की अवस्था में साधक अनुभव करता है कि परमात्मा की रचना में केवल एक ही नहीं बल्कि) कितने ही अर्थात् अनगिनत पवन, पानी तथा अग्नियाँ (आदि अपना-अपना काम कर रहे) हैं। (सृष्टि का पालन करनेवाली शक्तियों के प्रतीक विष्णु रूप) कृष्ण और (विनाशकारी शक्तियों के प्रतीक) शिव भी कितने ही हैं।

(परमात्मा द्वारा रची सृष्टि में रचनात्मक शक्तियों के प्रतीक) ब्रह्मा भी कितने ही हैं जिनके द्वारा अनगिनत रूपों अथवा शक्लों, रंगों और किस्मों की रचना की जा रही है।

(परमात्मा की सृष्टि में) कितनी ही कर्म-भूमियाँ हैं (अर्थात् ऐसी भूमियाँ हैं जहाँ कर्म किये जा रहे हैं और उनके फल भोगे जा रहे हैं)। (सृष्टि में) कितने ही (पर्वतराज) सुमेरु हैं और कितने ही ध्रुव प्रदेश हैं।

(ज्ञान खण्ड की अवस्था में साधक को इस तथ्य का भी अन्तर्ज्ञान हो जाता है) कि (सृष्टि में भौतिक शक्तियों के प्रतीक, देवताओं और स्वर्ग का राजा तथा वर्षा का देवता) इन्द्र (एक नहीं बल्कि) कितने ही हैं। कितने ही चाँद, सूरज हैं और (उन सूरजों के गिर्द चक्कर लगाने वाले ग्रह, नक्षत्र आदि तथा उनके गतिपथ अथवा) सौर-मण्डल भी असंख्य ही हैं; उनके देश अथवा स्थान भी असंख्य है।[७]

---

१. कान्ह, कन्हैया। २. रचना। ३. पुराणानुसार, पर्वतों का राजा एक पर्वत, जो सोने का कहा गया है। ४. ध्रुव। ५. सूर्य। ६. सौर-मण्डल।

७. आधुनिक खगोल-शास्त्र अथवा नक्षत्र-विज्ञान (Astronomy) का भी यही मत है कि जगत्-रचना में असंख्य ही सूर्य, चाँद तथा पृथ्वियाँ हैं और असंख्य ही सौर-मण्डल (solar systems) हैं।

केते सिध बुध, नाथ केते, केते देवी वेस॥
केते देव दानव, मुनि केते, केते रतन समुंद[१]॥
केतीआ खाणी[२], केतीआ बाणी, केते पात नरिंद[३]॥
केतीआ सुरती[४], सेवक केते, नानक, अंतु न अंतु॥३५॥

(ज्ञान खण्ड नामक चैतन्य विकास की भूमिका या अवस्था में पहुँचने पर यह ज्ञान भी हो जाता है कि उस कर्त्ता पुरुष की विशाल रचना में) कितने ही सिद्ध (अर्थात् अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न व्यक्ति अथवा सिद्धि प्राप्त योगी) हैं। कितने ही बुद्ध (प्रबुद्ध, जगे हुए, ज्ञानवान् अथवा आत्मज्ञानी लोग) हैं; कितने ही नाथ हैं और कितने ही देवी के भेस अथवा रूप हैं।

(सृष्टि में) कितने ही देवता और दानव अथवा राक्षस हैं; कितने ही मुनि (वाक्संयमी अथवा मननशील ऋषि) हैं। कितने ही समुद्र हैं और उनमें पाये जाने वाले रत्न भी (केवल चौदह नहीं) असंख्य हैं।[५]

(आम तौर पर अण्ड, जरायु, स्वेद और पृथ्वी आदि उत्पत्ति के चार स्रोत माने जाते हैं परन्तु ज्ञान-खण्ड की अवस्था में पहुँचने पर साधक को ज्ञात हो जाता है कि) उत्पत्ति के स्रोत (केवल चार ही न होकर) अनगिनत हैं; जीवों की वाणियाँ, बोलियाँ अथवा भाषाएँ भी असंख्य हैं; कितने ही पादशाह (अर्थात् सम्राट्) हैं और कितने ही (साधारण या छोटे) राजा हैं (अर्थात् छोटे, बड़े राजाओं की गिनती भी नहीं की जा सकती जो सृष्टि के असली मालिक परमात्मा को भुला कर सब कुछ अपना ही समझ कर फूले नहीं समाते)।

कितनी ही सुरतियाँ (आत्म-चेतना, बोध, मन या चित्त की अवस्थाएँ, सूझ-बूझ के स्तर अथवा भावनाएँ) हैं और (उनके अनुसार अभ्यास, साधना, प्रभु की सेवा आदि करनेवाले) सेवक भी कितने ही हैं। (पउड़ी के अन्त में श्री गुरु जी अपने आपको संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (ज्ञान खण्ड की अवस्था में, साधक को जो कुछ ज्ञात होता है उसके आधार पर वह कह उठता है कि कर्ता पुरुष, परमात्मा की रचना का) कोई अन्त नहीं, कोई अन्त नहीं॥ ३५॥

---

१. समुद्र, रत्नाकर। २. खानें, स्रोत। ३. नरेन्द्र, राजा। ४. बोध या चित्त की अवस्थाएँ।

५. एक पौराणिक कथा है कि अतीत काल में देवताओं और दानवों ने शेष-नाग को रस्सी और सुमेरु पर्वत की मथनी बना कर क्षीर-सागर को बिलोया था। इस तरह बिलोये जाने पर क्षीर-सागर में से अमृत, विष, सुरा, कल्पतरु, कामधेनु आदि चौदह रत्न प्राप्त हुए थे। यहाँ श्री गुरु जी इसी गाथा की ओर इशारा करके बताते हैं कि न तो क्षीर-सागर केवल एक है और न ही उसके मंथन से प्राप्त होने वाले रत्नों की संख्या केवल चौदह तक सीमित है। उस प्रभु की रचना में असंख्य सागर असंख्य ही रत्नों से भरे पड़े हैं।

[धर्म खण्ड की व्याख्या करते समय बताया गया था कि नाम-सुमिरन ही मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ धर्म है और यही निर्मल कर्म भी है। इस धर्म का पालन करने के लिए संसार से भागने की ज़रूरत नहीं है। बस अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए भी परमात्मा की सर्वत्र उपस्थिति को याद रखना है। अपना आप प्रभु परमात्मा को समर्पित करके संसार के प्रलोभनों, विषय-भोगों आदि में खचित न होकर सच्चे दिल से परमात्मा की याद में मग्न रहना है। इस प्रकार सच्चे दिल से, निरन्तर नाम-साधना करते रहने से प्रभु की कृपा द्वारा, साधक की आँखों के सामने से माया अथवा भ्रम का पर्दा हट जाता है और उस के मन में यथार्थ ज्ञान का उदय हो जाता है और इस तरह वह ज्ञान-खण्ड की अवस्था में प्रवेश कर जाता है।

ज्ञान खण्ड साधक के आत्मिक विकास की दूसरी भूमिका या अवस्था है। धर्म खण्ड के मुकाबले में यह अवस्था अधिक सूक्ष्म है। इस अवस्था में प्राप्त होने वाला ज्ञान पुस्तकीय, दिमाग़ी, भौतिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान से भिन्न है। यह ज्ञान किसी विषय की जानकारी मात्र नहीं है। इसे भौतिक इन्द्रियों के माध्यम के बिना, चेतना द्वारा प्राप्त किया जाने वाला आभ्यन्तर-ज्ञान, अन्तर्ज्ञान अथवा अनुभव-ज्ञान कहा जा सकता है। यह ज्ञान समय और स्थान (time and space) की सीमाओं से स्वतन्त्र है।

यह ज्ञान आत्मा और परमात्मा के आपसी संबंध, भौतिक जगत् की अनित्यता एवं नश्वरता आदि के बारे में होने वाली अनुभूति है। यह अनुभूति धर्म या अध्यात्म से संबंधित ऊँची सच्चाइयों पर निरन्तर चिन्तन-मनन करने से प्राप्त होती है। यह ज्ञान मनुष्य को अपनी वास्तविकता जानने, आत्म-साक्षात्कार करने, सांसारिक जंजाल अथवा भव-बन्धन से छुटकारा पाने और परमात्मा से मिलन प्राप्त करने के लिए उत्साहित, उत्प्रेरित, उत्कंठित व अधीर करता है। फलतः वह इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जुट जाता है— मुस्तैदी से लग जाता है। इसीलिए ज्ञान खण्ड के बाद की चैतन्य अथवा आत्मिक विकास की अवस्था का नाम सरम खण्ड है।]

गिआन खंड महि, गिआन परचंडु॥
तिथै, नाद[१] बिनोद[२] कोड[३] अनंदु।

(साधक के चित्त की ज्ञान खण्ड नामक विशेष अवस्था का सिंहावलोकन करते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—) ज्ञान खण्ड में ज्ञान (का प्रकाश)अत्यन्त प्रखर या तेज़ होता है। (अर्थात् इस अवस्था में साधक के चित्त पर ज्ञान का पूरा आधिपत्य, प्रभुत्व अथवा राज्य होता है। वह अनुपम ज्ञाता या द्रष्टा बन जाता है। उसके लिए दृश्यमान का विभ्रम समाप्त हो जाता है। फलतः सृष्टि के बारे में और कुछ जानने की उसकी इच्छा नहीं रहती।)

वहाँ (अर्थात् उस ज्ञान-खण्डवाली अवस्था में पहुँचे हुए साधक को सभी प्रकार के) रसात्मक स्वरों ओर कौतुकों अथवा खेल-तमाशों आदि (अर्थात् सुनकर और देखकर किये जाने वाले —audio-visual— सभी प्रकार के मनोरंजनों) का आनन्द प्राप्त होता है (उसे हर समय, हर तरफ़ दैवी शक्ति भिन्न-भिन्न ध्वनियों और दृश्यों द्वारा आनन्द की वर्षा करती हुई प्रतीत होती है)।

[यहाँ तक ज्ञान-खण्ड का निरूपण है। आत्म-विकास की इस अवस्था में पहुँचे हुए साधक की अन्तर्दृष्टि से अज्ञान अथवा भ्रम का पर्दा हट जाता है। तात्त्विक ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के कारण साधक वस्तुओं के अन्तरतम में देखता है। वह कुदरत की हरेक चीज़ में कादिर की व्यापकता अनुभव करता है। वह यह भी अनुभव कर लेता है कि प्रभु की रचना के किसी भी पहलू का कोई ओर-छोर नहीं है; प्रभु द्वारा रचित वस्तुओं आदि की गिनती नहीं की जा सकती। साधक को इस तथ्य का अनुभव हो जाता है कि इस सारे प्रपंच में उसकी अपनी क्या बिसात है।

प्रभु की लीला में असंख्य अद्भुत दृश्य देख कर वह आनन्द-विभोर हो उठता है और विस्मित होकर अवाक् रह जाता है। विस्मय की यह भावना उसे आत्म-विस्मृत कर देती है। ज्ञान के प्रखर प्रकाश में उसकी आँखें चुँधिया जाती है और उस पर एक अजीब तरह की अचेतनता-सी छा जाती है[४]।

उपरोक्त अनुभव के फलस्वरूप साधक अपने कर्त्ता, प्रभु परमात्मा से विरह अथवा वियोग का उत्कट अनुभव करता है और प्रभु से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठता है। प्रभु से आत्मिक संयोग प्राप्त करने के लिए वह नाम-सुमिरन में और भी जी

१. ध्वनि, रागात्मक स्वर। २. मनोरंजन, खेल। ३. कौतुक, तमाशा।
४. इस अनुभव का वर्णन कबीर साहब ने अपने एक सबद में भी किया है। देखिये परिशिष्ट-८

सरम[१] खंड की बाणी[२] रूपु[३]॥
तिथै घाड़ति[४] घड़ीऐ[५], बहुतु अनूपु[६]॥
ता कीआ गला[७], कथीआ न जाहि॥
जे को कहै, पिछै पछुताइ॥
तिथै घड़ीऐ, सुरति[८], मति[९], मनि[१०], बुधि॥

-जान से जुट जाता है। साधक की इस आत्मिक विकास की अवस्था का नाम सरम खण्ड अथवा श्रम खण्ड है। इस खण्ड का निरूपण करते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—]

(फिर से) ढालना, गढ़ना अथवा नई तरतीब या रूप देना सरम खण्ड (नामक आत्मिक विकास की अवस्था) का संलक्षण, विशिष्ट लक्षण अथवा ख़ासियत है। (अर्थात् इस अवस्था में पहुँचे हुए साधक की चेतना में क्रांतिकारी परिवर्तन करके उसे नया रूप दिया जाता है।)

वहाँ (अर्थात् सरम-खण्ड की अवस्था में) जो कुछ भी नये सिरे से गढ़ा जाता है, जो भी नया रूप दिया जाता है, वह बहुत ही अनुपम, बेजोड़ अथवा बेमिसाल होता है।

उस (अवस्था) की बातें कही नहीं जा सकतीं। (उस अवस्था में होनेवाला अनुभव कहने का विषय नहीं है। यह साधना और अनुभव का क्षेत्र है। अतः इस भूमिका में विचरण करने वाले साधक ही जानते हैं कि उस अवस्था का नज़ारा कैसा अद्‌भुत है।[११] इसका वर्णन कर सकना किसी के वश की बात नहीं।)

इसलिए यदि कोई उस (अर्थात् सरम खंड की अवस्था के प्रसंग) का वर्णन करने की कोशिश करे तो वह (अपने ऐसे प्रयास में असफल रहने के कारण अपनी अयोग्यता एवं असफलता पर) पश्चात्ताप करता है।

(हाँ, इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि) वहाँ (अर्थात् आत्म-विकास की सरम खण्ड नामक अवस्था में) मन में (स्थित या साधक के मन अथवा अन्तःकरण के अंगों) सुरत्ति (चेतनता, ध्यान या consciousness, attention) मति (समझ-बूझ या understanding और) बुद्धि (निश्चयात्मिक वृत्ति या विचार और निर्णय करने की शक्ति discrimination) को गढ़ा (या नया रूप दिया) जाता है। (इस का भाव यह है

१. परिश्रम, अभ्यास, तपस्या। २. बान, लक्षण, ख़ासियत। ३. गठन, बनावट, आकार। ४. गढ़त, बनावट। ५. गढ़ी जाती है। ६. अनुपम। ७. बातें। ८. अवधान, ध्यान। ९. समझ। १०. मन में।

११. कबीर चरन कमल की मउज को, कहि कैसे उनमान॥
कहिबे कउ सोभा नही, देखा ही परवानु ॥१२१॥

सलोक कबीर जी, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३७०

तिथै घड़ीऐ, सुरा[१] सिधा[२] की सुधि[३] ॥ ३६ ॥

कि सरम खण्ड की अवस्था में साधक के मन अथवा अन्त:करण को विकास की नई दिशा और दशा प्राप्त हो जाती है।)

वहाँ (सरम-खण्ड नामी अवस्था में दिव्य शक्ति-सम्पन्न अमर प्राणियों अथवा) देवताओं और (सिद्धि-प्राप्त अथवा अति-प्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न) सिद्धों की जैसी, सुध अथवा अन्तर्दृष्टि— intuition— गढ़ी जाती है। (अर्थात् सरम खण्ड की अवस्था में पहुँचे हुए साधक की सुध अथवा अन्तर्दृष्टि सिद्धों और देवताओं की प्रतिभा जितनी सूक्ष्म, पैनी या कुशाग्र हो जाती है) ॥३६॥

[सरम-खण्ड में साधक निरन्तर नाम-साधना अथवा नाम-अभ्यास रूपी तपस्या में जुटा रहता है जिसके फलस्वरूप उसका कायापलट हो जाता है। उसे देवताओं और सिद्धों जैसी प्रतिभा प्राप्त हो जाती है। परन्तु प्रभु-परमात्मा से मिलने या एकाकार होने के लिए इतना कुछ पर्याप्त नहीं है। इसके लिए विरह, अर्थात् परमात्मा से वियोग के कारण अनुभूत होने वाला अनुराग तथा वेदना और वैराग्य, अर्थात् संसार से मन का उदासीन होना भी अपेक्षित है। परन्तु प्रभु-कृपा के बिना यह सब कुछ अधूरा है।

प्रभु-कृपा के लिए कोई साधक दावा तो नहीं कर सकता परन्तु इसका पात्र बनने के लिए मन से अहंकार को पूरी तरह त्याग कर, हर तरह से समर्पित होकर, नाम-साधना का श्रम अवश्य करना पड़ता है। कौन प्रभु की कृपा के योग्य है और कौन नहीं, इसका निर्णय परमात्मा के अपने हाथ में है— परमात्मा की कृपा उसकी अपनी मरज़ी पर निर्भर करती है। हाँ, इसके बारे में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जब सरम खण्ड की अवस्था में पहुँचा हुआ कोई साधक प्रभु के अनुग्रह का पात्र बन जाता है तो वह करम खंड में प्रवेश प्राप्त कर लेता है।]

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

---

१. देवताओं की। २. सिद्धि प्राप्त योगियों । ३. सुधि, प्रतिभा, अन्तर्दृष्टि।

करम[१] खंड की बाणी[२], जोरु[३]॥
तिथै, होरु न कोई होरु॥
तिथै, जोध[४] महाबल[५] सूर[६]॥
तिन महि, रामु रहिआ भरपूर[७]॥
तिथै सीतोसीता[८] महिमा, माहि॥

[जपुजी साहिब की इस सैंतीसवीं पउड़ी की पहली दस पंक्तियों में करम खण्ड का और इनके बाद की आठ पंक्तियों में सच-खण्ड का निरूपण किया गया है। करम खण्ड का निररूपण करते हुए श्री गुरु जी फ़रमाते हैं—]

करम खण्ड की बनावट (अर्थात् करम खण्ड का संलक्षण, प्रमुख या विशिष्ट लक्षण अथवा ख़ासियत ईश्वरीय) ज़ोर, बल या पराक्रम है। (इसका भाव यह है कि परमात्मा की कृपा का पात्र बन जाने पर साधक को आत्मिक अथवा दैवी बल प्राप्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप अहंकार और विषय-विकार आदि उसके पास फटक भी नहीं सकते।) वहाँ (अर्थात् करम खण्ड की अवस्था में, दैवी कृपा पा लेने वाले साधकों के अलावा) अन्य कोई भी नहीं होता। (अर्थात् इस खण्ड या अवस्था में केवल वे साधक ही प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं जिन पर दैवी कृपा या अनुग्रह हो चुका होता है।)

वहाँ (अर्थात् करम खण्ड में वासनाओं अथवा सांसारिक आकर्षणों और विषय-विकारों आदि से निरन्तर जूझने वाले, परमात्मा के प्रेम में पगे हुए, अहंकार-रहित होकर मोह और माया की परवाह न करके, प्रभु-प्राप्ति के लिए जान की बाजी लगाने वाले आध्यात्मिक) योद्धा और महाबली सूरमा ही होते (या पहुँचते) हैं[९]। उन (अर्थात् ऐसे साधकों) के अन्तःकरण में सर्वव्यापक, परमात्मा भरपूर (अर्थात् पूरी तरह या लबालब भरा हुआ) होता है।

वहाँ (अर्थात् करम-खण्ड की अवस्था में पहुँचे हुए) साधक का रोम-रोम

---

१. कृपा, अनुग्रह। २. बनावट, संलक्षण, ख़ासियत। ३. जोर, दैवी बल। ४. योद्धा। ५. महाबली। ६. शूरवीर, सूरमा। ७. पूरी तरह भरा हुआ, परिपूर्ण। ८. रोम-रोम, रोयाँ-रोयाँ।

९. जा कउ हरि रंगु लागो इसु जुग महि सो कहीअत है सूरा॥
आतम जिणै सगल वसि ता कै जा का सतिगुरु पूरा॥ १॥
—धनासरी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६७९

नानक सो सूरा वरीआमु, जिनि विचहु दुसटु अहंकरणु मारिआ।
सलोकु, महला ३, वही, पृष्ठ ८६

ता के रूप न कथने जाहि॥
ना ओहि[१] मरहि, न ठागे जाहि॥
जिन कै, रामु[२] वसै मन माहि[३]॥
तिथै, भगत वसहि, के[४] लोअ[५]॥
करहि अनंदु, सचा मनि सोइ॥

अथवा रोयाँ-रोयाँ परमात्मा की महिमा अथवा स्तुति में निरन्तर व्यस्त रहता है[६]। (पति परमेश्वर को कभी न भूलने और उसकी महिमा निरन्तर करते रहने के कारण ऐसी आत्माओं के अंग-अंग में सुन्दर प्रभु का देवी सौंदर्य झलक उठता है। यही कारण है कि) उन (साधकों) के रूप कथन में नहीं आ सकते। (अर्थात् उनके चेहरों पर ऐसी दग़दग़ाती आत्मिक सुन्दरता झलकने लगती है जो वर्णनातीत होती है, जिसको बयान नहीं किया जा सकता।)

'वे'(अर्थात् ऐसे करम-खण्ड की अवस्था में पहुँचे हुए साधक) जिनके मन में सर्वव्यापी, परब्रह्म परमात्मा (नित्य, निरन्तर) निवास करता है न (तो कालवश होकर) मरते हैं और न ही (माया के प्रभाव में आकर) किसी तरह ठगे जा सकते हैं। (हरि में लीन रहने के कारण ऐसे साधक काल अथवा जन्म-मरण के चक्कर और माया के जाल से स्वतंत्र हो जाते हैं।)

वहाँ (अर्थात् करम खण्ड की अवस्था में किसी एक विशेष लोक, भुवन अथवा स्थान के ही नहीं बल्कि) अनेक लोकों के भक्त निवास करते (अथवा पहुँचते) हैं। वे (इस आत्मिक अवस्था में पहुँचे हुए साधक) सदा आनन्द का अनुभव करते हैं क्योंकि सच्चा (सत्य एवं आनन्द-स्वरूप, परम पुरुष परमात्मा स्वयं) उनके मन में निवास करता है। (करम-खण्ड देश और काल तथा मृत्यु और माया के प्रभाव से स्वतन्त्र अवस्था है जहाँ साधक को भ्रम-रहित, अबाध दृष्टि प्राप्त हो जाती है और वह जान जाता है कि ये चेतना के विकास की अवस्थाएँ किसी एक विशेष जाति, धर्म, देश अथवा लोक के जीवों के लिए ही सुरक्षित नहीं हैं। इसका भाव यह है कि परब्रह्म परमात्मा के भक्त चाहे किसी भी स्थान से सम्बन्ध रखते हों वे आत्मिक विकास करते-करते, प्रभु-परमात्मा के अनुग्रह का पात्र बन जाने पर, इस पड़ाव पर अवश्य पहुँचते हैं।)

१. वे। २. रमा हुआ, सर्वव्यापी, परब्रह्म परमात्मा। ३. में। ४. कई। ५. लोकों के।
६. रोमे रोमि रोमि रोमे मै गुरुमुखि रामु धिआए राम॥ आसा, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४४३
रोमि रोमि हरि उचरै खिनु खिनु हरि सोई॥ सारंग की वार, महला ४, वही, पृष्ठ १२४७

सच खंडि वसै, निरंकारु[१] ॥

करि करि वेखै[२], नदरि[३] निहाल॥

[इस प्रकार अन्दर-बाहर, ऊपर-नीचे, सब ओर, सब जगह विद्यमान परमात्मा की सत्ता के आनन्द-सागर में जहाँ साधक की आत्मा रूपी नदी आ कर मिलती है वह सन्धि-स्थल 'करम-खण्ड' कहलाता है। इसके बाद आनेवाली अवस्था का नाम 'सच-खण्ड' है। यह वह अवस्था है जहाँ निरंकार का निवास है। परन्तु यहाँ विशेष ध्यान देने वाली बात यह है कि परमात्मा के इस निवास-स्थान का कोई स्थूल रूप नहीं है और न ही इसकी कोई भौगोलिक अवस्थिति या मौक़ा —location— है। यह आत्म-विकास की रहस्यमय, आन्तरिक यात्रा का अन्तिम पड़ाव, अवस्था या मंजिल है। यह ऐसा लोकोत्तर, दैवी अनुभव है जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यहाँ पहुँचकर साधक की आत्मा परमात्मा रूपी सागर में विलीन होकर तद्रूप हो जाती है।[४] ठीक वैसे ही जैसे नदी सागर में मिल कर स्वयं सागर का रूप बन जाती है।]

सच-खण्ड (अर्थात् परमात्मा से साधक की आत्मा के मिलाप की अवस्था, परमात्मा से एकाकार हो जाने या साधक को 'सचिआर' रूप प्राप्त हो जाने की अवस्था) में निरंकार (या निराकार परब्रह्म परमात्मा) बसता है, निवास करता है। (अर्थात् इस अवस्था में साधक का अहंभाव समाप्त हो जाता है और उसके अन्तःकरण में वाहिगुरु प्रकट हो जाता है। साधक यह भी अनुभव कर लेता है कि वह सृजनहार आप ही भाँति-भाँति की) रचना कर करके, अपनी दया-दृष्टि द्वारा उस अपनी रचना को देखता है, उसकी सम्भाल करता है। (अर्थात् परमात्मा को विविध-रूपा सृष्टि की रचना करने और उसकी देखभाल करने के लिए किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ती।)

[इसका भाव यह है कि इस अवस्था में साधक को परब्रह्म परमात्मा की सत्ता का रहस्यमय दर्शन अथवा अनुभव हो जाता है। यह रहस्य भी उसकी समझ में आ जाता है कि उसका मूल स्वरूप भी परमात्मा के स्वरूप जैसा ही है।[५] इसके बाद वह

---

१. निरंकार; निराकार परमात्मा। २. देखता है, देखभाल करता है। ३. दया-दृष्टि द्वारा।

४. नानक लीन भइओ गोबिंद सिउ, जिउ पानी संगि पानी।।

सोरठि, महला ९, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६३३

राम कबीरा एक भए है, कोई न सकै पछानी।। रामकली, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ ९६९

५. अचरज कथा महा अनूप।।

प्रातमा पारब्रहम का रूपु।। गोंड, महला ५, वही, पृष्ठ ८६८

तिथै, खण्ड, मंडल, वरभंड[१]।।
जे को[२] कथै[३], त[४] अंत न अंत।।
तिथै, लोअ लोअ[५] आकार।।
जिव जिव हुकमु, तिवै तिव[६] कार।।
वेखै[७], विगसै[८], करि वीचारु[९]।।

अपने आप को हर तरह से और हर तरफ से परमात्मा की हजूरी में घिरा हुआ पाता है ठीक उसी तरह जैसे मछली जीवनभर पानी में घिरी रहती है।]

वहाँ (अर्थात् आत्मिक विकास की सच-खण्ड नामक अवस्था में) सभी खण्ड (भू-भाग), मण्डल (सौर-मण्डल) तथा ब्रह्माण्ड उपस्थित दिखाई देते हैं।

यदि कोई (व्यक्ति उनका) कथन करने लगे तो उसे उन (असंख्य, खण्डों, मण्डलों और ब्रह्माण्डों आदि) का कोई अन्त अथवा ओर-छोर नहीं मिलता।

वहाँ (अर्थात् आत्मिक विकास की सच खण्ड नामक अवस्था में पहुँची हुई आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि सृष्टि में गिने-चुने नहीं बल्कि) लोक ही लोक (अर्थात् अनगिनत लोक) हैं और (उनमें पाये जाने वाले असंख्य ही सूक्ष्म एवं स्थूल) आकार (वाले जीव, पदार्थ आदि) हैं।

(इस अवस्था में साधक को यह भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि उन सब भू-भागों, मण्डलों, ब्रह्माण्डों और लोकों में) क्रिया ठीक वैसे ही चल रही है जैसा परमात्मा का हुक्म या आदेश हो रहा है। (इसका भाव यह है कि इस अवस्था में परमात्मा का आदेश सर्वत्र व्याप्त और सक्रिय दिखाई देता है। अर्थात् साधक प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है कि सृष्टि में जो कुछ भी हो रहा है, वह सब दैवी विधान के अधीन, दैवी विधान के नियंत्रण में, ही हो रहा है।)

(आत्म-विकास की, इस अवस्था में साधक को यह भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि कर्त्ता पुरुष) वाहिगुरु (अपनी रचना को) देखता है और विचार करके प्रसन्न होता है। (इतनी बड़ी सृष्टि की देखभाल आदि का इतना बड़ा प्रबन्ध करने में परमात्मा को कोई थकान, तकलीफ़ या खीझ नहीं होती। सृष्टि उसकी अपनी रचना, मौज अथवा लीला है और इसे चलाते हुए वह सदा प्रसन्न रहता है। इस अवस्था में पहुँचा हुआ साधक भी निरंकार की विस्मयजनक लीला को देखता है और विचार कर करके प्रसन्न

१. ब्रह्माण्ड। २. कोई (व्यक्ति)। ३. कहने लगे, बताने लगे। ४. तो। ५. लोक ही लोक। ६. ठीक उसी प्रकार, वैसे ही। ७. देखता है। ८. प्रसन्न होता है। ९. विचार करके।

नानक, कथना[१] करड़ा[२] सारु[३] ।। ३७ ।।

होता है। पउड़ी के अन्त में, श्री गुरु जी अपने आप को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—)

हे नानक! इस (सच खण्ड नामक अवस्था में साधक को जो अनुभव प्राप्त होता है उस) का कथन करना (लोहे के चने चबाने) की तरह अतीव कठिन (ही नहीं, असम्भव) है (अर्थात् आत्म-विकास की यह अवस्था वर्णनातीत है, बयान से बाहर है, इसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है) ।। ३७ ।।

[सच खण्ड बौद्धिक कवायद या कसरत का विषय न होकर परम सत्य का परा-बौद्धिक —super-intellectual—अनुभव है। यह आत्म-विकास की चरम अथवा अन्तिम अवस्था है। इसमें परमात्मा खोज का विषय न रहकर रहस्यात्मक अनुभव बन जाता है। यह उस अवस्था का नाम है जिसमें साधक की आत्मा और परमात्मा के बीच की असत्य, अहङ्कार अथवा माया रूपी भ्रम, की दीवार टूट जाती है। साधक प्रभु परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है और प्रभु की लीला का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है। अत: यह आध्यात्मिक अनुभव की वह अवस्था है जिसमें साधक चरम सत्य में विलीन होकर सचिआर, सत्य-आकार, हो जाता है। अर्थात् इस अवस्था में साधक सत्य-रूप परमात्मा से आत्मिक संयोग प्राप्त करके उसी का रूप हो जाता है।

सच खण्ड में खंडों, मंडलों, भुवनों आदि का उपस्थित होना इस तथ्य को रेखांकित करता है कि परमात्मा का निवास हर स्थान पर है। परमात्मा ही वह परोक्ष सत्ता है जो इस सारे प्रपंच अथवा सूक्ष्म एवं स्थूल सृष्टि के अस्तित्व का मूल कारण है और इसकी सारी प्रक्रिया को चला रही है।

सचखण्ड में परमात्मा का रहस्यात्मक मिलाप अथवा परमात्मा का दर्शन होने की अवस्था में साधक का अहंभाव समाप्त हो जाता है। अहं-भावना के समाप्त हो जाने पर यह तथ्य उसकी समझ में आ जाता है कि उसका अपना मूल रूप परमात्मा के स्वरूप जैसा ही है। वह यह भी अनुभव कर लेता है कि परमात्मा जीवन का एक बहुत विशाल सागर है। सारी सृष्टि उसी में जीवन जी रही है। उस वाहिगुरु के बिना अन्य कोई स्वतन्त्र हस्ती नहीं है। संसार उसी कर्ता पुरुष का बनाया हुआ तमाशा है। परमात्मा की दरगाह से मिले वियोग के कारण जीव उससे बिछुड़ जाता है और संयोग के कारण उससे फिर मिलाप प्राप्त कर लेता है।[४] जब तक जीव के अन्दर अहंभावना बनी रहती है

१. कथन करना। २. कठिन, सख़्त। ३. लोहा, लोहे की तरह।

४. तूं दरीआउ सभ तुझ ही माहि ।। तुझ बिनु दूजा कोई नाहि ।।
जीअ जंत सभि तेरा खेलु ।। विजोगि मिलि विछुड़िआ संजोगी मेलु ।।
आसा, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ३६५

तब तक परमात्मा उसके सामने प्रकट नहीं होता। परन्तु जब परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाता है तब जीव की अहंभावना समाप्त हो जाती है। हवा चलने से समुद्र छोटी-बड़ी असंख्य लहरों से भर जाता है। परन्तु सभी लहरें समुद्र के पानी से बनी होने के कारण असल में पानी ही हैं। उसी प्रकार ये सभी जीव जन्तु आदि वाहिगुरु का ही विकाश हैं।[१] पानी की लहरें, झाग और बुलबुले आदि भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी पानी से भिन्न नहीं होते— वास्तव में पानी ही होते हैं। उसी प्रकार यह दृश्यमान् जगत् जो परब्रह्म परमात्मा की रची हुई लीला है, उस, अपने कर्ता से भिन्न नहीं है।[२]

'अहं' अथवा 'मैं-मैं' की भावना जब उड़न-छू हो जाती है तब साधक स्वयं प्रभु का रूप हो जाता है। फिर, वह जिधर देखता है उसे परमात्मा ही नज़र आता है— वह सर्वत्र प्रभु की उपस्थिति अनुभव करता है।[३] वह अनुभव करता है कि उसकी स्थिति समुद्र में रहने वाली एक छोटी सी मछली की तरह है जिसके ऊपर, नीचे, चहुँ ओर पानी ही पानी है— पानी ही जिसका जीवन है और पानी से बाहर निकलते ही वह तड़पकर मर जाती है।[४] इस अवस्था में उसे ब्रह्म-साक्षात्कार निरन्तर होता रहता है।

परमात्मा से आत्मा के मिलन को नदी के समुद्र से मिलन के समान बताया गया है। बहती हुई नदी समुद्र से मिलकर अपना सर्वस्व उसमें ऊँडेलने लगती है। साधक की मुक्त आत्मा भी परमात्मा रूपी महासागर में उमड़ पड़ती है। नदी समुद्र में बह बहकर उसका रूप होती जाती है। नदी में पानी भी समुद्र का ही होता है। परन्तु समुद्र में बहती हुई, समुद्र का रूप धारण करते हुए भी, नदी अपना अस्तित्व बनाये रखती है। इसी तरह रहस्यात्मक प्रभु-मिलन के दौरान आत्मा भी परम-आत्मा में समायी अथवा विलीन हुई होने पर भी अपना अस्तित्व बनाये रखती है।

इस बात को समझाने के लिए रहस्यवादियों द्वारा एक और उदाहरण भी दिया जाता है। लोहे के पिण्ड अथवा टुकड़े को भट्ठी में ख़ूब तपाया जाये तो वह लाल-सुर्ख़

---

१. जब हम होते तब तू नाही अब तू ही मै नाही।।
अनल अगम जैसे लहरि मइ ओदधि, जल केवल जल मांही।।
राग सोरठि, रविदास जी, वही, पृष्ठ ६५७

२. जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिंन न होई।।
इहु परपंचु पारब्रहम की लीला, बिचरत आन न होई।। आसा, नामदेउ जी, वही, पृष्ठ ४८५

३. कबीर तूं तूं करता तू हूआ, मुझ महि रहा न हूं।।
जब आपा पर का मिटि गइआ, जत देखउ तत तू ।। २०४।। सलोक, कबीर जी, वही, पृष्ठ १३७५

४. तू दरीआउ दाना बीना, मै मछुली कैसे अंतु लहा।।
जह जह देखा, तह तह तू है, तुझ ते निकसी फूटि मरा।। सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ २५

होकर आग का रूप धारण कर लेता है। परन्तु आग की लपटें छोड़ते हुए भी वह आग नहीं होता, आग से भिन्न, लोहे का पिण्ड या टुकड़ा, ही रहता है। इसी तरह सच खण्ड नामक अवस्था में प्रभु-मिलन का रहस्यात्मक अनुभव कर लेने पर आत्मा परम-आत्मा का रूप तो हो जाती है परन्तु आत्मा के अस्तित्व का अन्त नहीं होता— आत्मा का विलोप या विनाश नहीं होता। इस अनुभव के फलस्वरूप वह निरहंकार होकर परमात्मा का हथियार या औज़ार बनकर— परमात्मा की कठपुतली के तौर पर— संसार में क्रियाशील रहता है।

अगली पउड़ी के अर्थों का विचार करने से पहले सच खण्ड में होने वाले रहस्यात्मक अनुभव के बारे में कुछ और स्पष्टीकरण ज़रूरी लगता है।

पाँच खण्डों के विषय में विचार करते समय, कोई अन्य, अधिक उपयुक्त शब्द न सूझने के कारण, 'आत्मिक विकास', 'आत्म-विकास', 'मानसिक विकास', 'यात्रा' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। वहाँ इन खण्डों को इस 'यात्रा के पड़ाव' भी कहा गया है। आध्यात्मिक अनुभव के लिए 'प्रभु-प्राप्ति', 'सचिआर पद की प्राप्ति' आदि शब्द भी आम बरते गये हैं। असल में यहाँ भौतिक यात्रा या किसी साकार प्राप्ति जैसी कोई बात नहीं होती। यहाँ भौतिक यात्रा की तरह किन्हीं दो स्थानों के बीच का फ़ासला तै नहीं करना पड़ता— इसमें किसी एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाया नहीं जाता। साधक की मानसिक अवस्था में ही परिवर्तन होता है। अपने आपको पहचानने के लिए जन्म-जन्मान्तरों का समय लग जाता है। यह मंज़िल पाने के लिए जीव को अनेक योनियों में से गुज़रना पड़ता हैं। इसलिए इस प्रतीकात्मक यात्रा को 'पैंड़ा, दूरी अथवा फ़ासला रहित लम्बी यात्रा' कहा जा सकता है।

'प्राप्ति' का सीधा-सादा अर्थ है— किसी ऐसी वस्तु आदि को पा लेना जो हमारे पास पहले से न हो। परन्तु आध्यात्मिक अनुभव अथवा सच खण्ड की अवस्था में जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह हम से कभी दूर हुआ ही नहीं होता। वह तो सदैव हमारे अन्तरतम भाग में हमारे पास ही उपस्थित रहता है। न तो हमारा वास्तविक स्वरूप कहीं गया होता है और न परमात्मा ही। हम ही संसार के मोह और विषयभोगों में खचित रहने के कारण उससे मुख मोड़े रहते हैं; उसे भूले रहते हैं।

वास्तव में, आध्यात्मिक अनुभव होने तक की प्रक्रिया जीव की आँखों के सामने से माया, मोह अथवा अहं के झूठे पर्दे के धीरे-धीरे हटने अथवा क्रमशः झीना होते जाने की प्रक्रिया है। यह पर्दा अपारदर्शी (opaque) से पारभासी (translucent) और फिर पारदर्शी (transparent) होकर साधक की आँखों के सामने से हट जाता है। इस पर्दे के पूरी तरह हट जाने पर, अथवा सच खण्ड की अवस्था में पहुँचकर, जीव

सचिआर (= सत्य+आकार) हो जाता है।[१] अत: इस अवस्था अथवा अनुभव के लिए चाहे किन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाये उन सबका भावार्थ 'प्रभु-मिलन', 'प्रभु-दर्शन' अथवा 'आत्म-दर्शन' ही होता है । वास्तव में, यह अपने ही वास्तविक रूप का पुनर्बोध है। यह अपने ही उस ज्योति-स्वरूप का ज्ञान, प्रत्यक्ष दर्शन अथवा रहस्योद्घाटन है जो जीव का असली रूप है।[२] यह फिर से वही हो जाने की अवस्था या अनुभव है जो जीव वास्तव में है। यह उसी प्रकार की प्रक्रिया, अवस्था या अनुभव है जो किसी नट या अभिनेता को तब होता है जब वह अपना कोई अभिनय समाप्त करके अपने असली रूप में आ जाता है।[३]

अपने वास्तविक रूप का बोध हो जाने पर जीव अनुभव करता है कि परब्रह्म परमात्मा का वास्तविक रूप भी वही है। इसीलिए कहा जाता है कि आत्मविकास की अंतिम मंजिल पर पहुँच कर— सच खण्ड की अवस्था में— आत्मा परमात्मा के रूबरू हो जाती है, जीव को परमात्मा से तद्रूपता का बोध हो जाता है।[४]

इस सच्चाई को कभी नहीं भूलना चाहिए कि यह 'प्रभु-दर्शन' अथवा 'आत्म-दर्शन' का रहस्यात्मक अनुभव साधक द्वारा किये गये किसी कर्म, कर्म-काण्ड, साधना या प्रयास का फल बिल्कुल नहीं है। हाँ, यह बिलकुल सच है कि इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रयास हरेक साधक को आप ही करना पड़ता है। यह भी सर्वथा सत्य है कि दैवी अनुभव, परमात्मा से साक्षत्कार, साधक की किसी विशेष योग्यता के कारण नहीं होता। न ही यह अनुभव इसलिए होता है कि साधक इसका अधिकारी या हक़्दार है। यह सब तो वाहिगुरु, परब्रह्म परमात्मा की कृपा का फल है, जो वह अपने दयालु स्वभाव के कारण, अपनी मरज़ी से, बख़्शिश करता है।[५]]

---

१. दिनु रैणि नामु धिआइदा फिरि पाइ न मोआ।
जिस ते उपजिआ नानका सोई फिरि होआ।।
बसंत की वार, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ११९३

२. मन तू जोति सरूपु है आपणा मूलु पछाणु।।
मन हरि जी तेरै नालि है गुरमती रंगु माणु।। आसा, महला ३, वही, पृष्ठ ४४१

३. बाजीगरि जैसे बाजी पाई।। नाना रूप भेख दिखलाई।।
सांगु उतारि थंम्हिओ पासारा।। तब एको एकंकारा।। सूही, महला ५, वही, पृष्ठ ७३६

४. कथनी कहहि कहहि से मूए।।
सो प्रभु दूरि नाही प्रभु तूं है।। आसा महला १, वही पृष्ठ ३५४
तू दाता जीआ सभना का,
जीआ अंदरि जीउ तुही।। मलार, महला १, वही, पृष्ठ १२५४

५. देहि देहि आखै सभु कोई जै भावै तै देइ।। रामकली, महला १, वही पृष्ठ ९३३
मेरे ठाकुर हाथि वडिआईआ भाई जै भावै तै देइ।। सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ६३७

जतु[१] पाहारा[२], धीरजु[३] सुनिआरु[४]॥

[पिछली पउड़ी में निरूपित सच-खण्ड की अवस्था अथवा सचिआर-पद यों ही बैठे-बिठाये या बिना कुछ किये ही प्राप्त नहीं हो जाता। इसके लिए आवश्यक साधना करनी पड़ती है और अपेक्षित अनुशासन का पालन करना पड़ता है। श्री जपुजी साहिब की अन्तिम पउड़ी में इस प्रक्रिया को सुनार के काम के रूपक द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार सुनार एक अनगढ़ धातु-पिण्ड से गहने तैयार करता है उसी प्रकार साधक के आन्तरिक जीवन, अन्त:करण और स्वभाव को नया रूप दिया जाता है।

कोई गहना बनाने के लिए सुनार पहले पुराने गहनों या सोना, चाँदी आदि धातुओं के टुकड़ों को कुठाली में डालकर दहकते अंगारों पर रखता है। धौंकनी से हवा दे देकर भट्ठी के ताप को बढ़ाता है ताकि कुठाली में रखे हुए धातु के टुकड़े आदि पिघलकर तरल हो जायें। वह इस तरह तरल हुई धातु को किसी सांचे में ढालता है। फिर उसे निहाई पर रखकर हथौड़े आदि की सहायता से ठोक, पीटकर ज़रूरी आकार देता है। और फिर, छील-तराशकर, जवाहर आदि की जड़ाई तथा मीनाकारी आदि करके भिन्न-भिन्न आकारों और नमूनों के गहने तैयार करता है।

आध्यात्मिक पथ के राही को भी सुनार की तरह, पूरे मनोयोग से, पूरा दिल लगा कर, सख़्त मेहनत करनी पड़ती है। वह प्रभु के भय में रहकर निरन्तर साधना करता है ताकि वह अपने मालिक को भा सके और उसकी कृपा का पात्र बन सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संयमपूर्वक अध्यवसाय, लगातार कोशिश, अभ्यास और धैर्य की ज़रूरत पड़ती है। जैसे सुनार धातु के टुकड़ों को तपा, पिघला, सांचे में ढाल और ठोक, पीट, तराशकर गहनों का रूप देता है वैसे ही साधक भी अपने आचरण को नए सिरे से ढालता है; उसे नया रूप देता है। इस प्रक्रिया का निरूपण करते हुए श्री गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं—]

(हे साधक! तुम कष्ट, विपत्ति या संकट के समय विचलित या परेशान न होने अथवा हर हालत में विकलता, घबराहट आदि से स्वतन्त्र रहने के गुण) धीरज को सुनार और (विषय वासनाओं आदि का त्याग करके अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखने के गुण) संयम (अथवा चित्त-वृत्तियों के निरोध) को (उस धीरज रूपी) सुनार का कारखाना बना लो (अर्थात् संयम को अपने जीवन का मूल आधार बनाओ और अपना हरेक काम धैर्यपूर्वक करो)।

---

१. संयम, इंद्रियनिग्रह। २. लोहार, सुनार आदि का कारखाना (smithy)। ३. धैर्य। ४. सुनार।

अहरणि[१] मति, वेदु[२] हथीआरु[३]
भउ[४] खला[५], अगनि तप ताउ[६]॥
भांडा[७] भाउ[८], अंम्रितु[९] तितु ढालि॥

(सुनार के कारखाने में निहाई नाम का एक लोहे का पिण्ड गड़ा होता है, जिस पर वह धातु के टुकड़ों आदि को रखकर, हथौड़े से कूटता, पीटता और वांछित आकार देता है। तुम भी अपने संयम रूपी कारखाने में परमात्मा द्वारा दी हुई निश्चयात्मक शक्ति) बुद्धि या अक्ल को निहाई बना लो (अर्थात् अपनी बुद्धि को निहाई की तरह अच्छी प्रकार टिका लो, ताकि जिस तरह हथौड़े की चोटें पड़ने पर भी निहाई अपने स्थान पर अचल रहती है वैसे ही तुम्हारी बुद्धि किसी प्रकार के संशय में पड़कर अथवा सांसारिक प्रलोभनों, मोह, माया आदि के थपेड़ों या स्वर्ग आदि के लालच में पड़कर आत्मिक विकास के पथ से चलायमान न हो जाये। धैर्य रूप सुनार को) धार्मिक ज्ञान अथवा तत्त्व-ज्ञान का हथौड़ा पकड़ा दो और उसे बुद्धि रूपी निहाई पर चोटें लगाने दो। (इसका अर्थ यह है कि बुद्धि को स्थिर बनाकर उस पर गुरु द्वारा दिये गये उपदेश अथवा यथार्थ ज्ञान की निरन्तर चोटें लगाते रहो; गुरु वचनों द्वारा मिले आध्यात्मिक ज्ञान की रोशनी में अपने मन को बार-बार समझाकर, अपने अन्तःकरण, अपनी सोच और आचरण को उसके अनुसार गढ़ो, ढालो, बदलो और नया रूप दो।

धातु के टुकड़ों और पुराने गहनों आदि को गलाने के लिए सुनार के पास भट्टी होती है और भट्टी की आग को तेज करने के लिए धौंकनी भी। हे साधक! तुम भी परमात्मा के) भय को अपनी धौंकनी बना लो और (इस, परमात्मा के भय की सहायता से नाम-साधना रूपी श्रम तथा मन एवं इन्द्रियों को एकाग्र रखने की क्रिया रूपी) तप की अग्नि को तेज़ करो। (इसका भाव यह है कि विषय-वासनाओं और सांसारिक मोह तथा सांसारिक आकर्षणों की ओर जाने से रोकने के लिए अपने मन को निरंतर याद कराते रहो कि परमात्मा तुम्हारे निकट खड़ा सब कुछ देख रहा है। इस तरह परमात्मा के नाराज़ हो जाने का भय देकर अपनी साधना को निरन्तर प्रचण्ड करते रहो।)

(सुनार के पास, चिकनी मिट्टी का बना हुआ, कुठाली नाम का एक छोटा-सा पात्र होता है, जिसमें पुराने गहनों तथा सोने, चाँदी आदि के टुकड़ों को डालकर पिघलाया जाता है। हे साधक! तुम भी परमात्मा के) प्रेम को अपनी कुठाली बना लो और उस

१. निहाई, anvil । २. धार्मिक ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान। ३. हथौड़ा। ४. (परमात्मा का) भय, अनुशासन। ५. धौंकनी। ६. तप का ताव या ताप। ७. कुठाली। ८. भाव, प्रेम। ९. सोना, प्रभु का नाम।

घड़ीऐ सबदु[१], सची टकसाल॥[२]
जिन कउ, नदरि करमु[३], तिन कार[४]॥
नानक, नदरी[५] नदरि निहाल॥ ३८॥

(प्रभु-प्रेम-युक्त हृदय) में अमृत (अर्थात् सोने) को गलाओ। (इसका भावार्थ यह है कि अमृतत्व, अथवा प्रभु-मिलन का शाश्वत जीवन, प्रदान करने वाले प्रभु-परमात्मा के नाम को अपने मन में प्रेम-पूर्वक टिका लो। ख़ूब नाम-सुमिरन करो।)

(हे साधक! इस तरह की, ऊपर बतायी गयी) सच्ची टकसाल में शब्द (रूपी सिक्का) गढ़ा जाता है। (अर्थात् ऊपर बताये गये अनुशासन के अनुसार अभ्यास करने से, गुरु-शब्द अर्थात् गुरु-शब्द में निहित आध्यात्मिक ज्ञान, साधक के अन्तःकरण में साकार हो जाता है[६] और साधक की जीवन-शैली, आचरण और स्वभाव गुरुवाणी के अनुसार ढल कर नया रूप धारण कर लेता है। इसके फलस्वरूप उसके मन में दिव्य चेतनता जाग्रत हो जाती है। आत्म-विकास के मार्ग पर पड़ाव-दर-पड़ाव बढ़कर वह परम सत्य का अनुभव कर लेता है— शब्द-ब्रह्म से तदाकार हो जाता है।

परन्तु यह सच्चाई कभी नहीं भूलनी चाहिए कि यह सब-कुछ केवल साधक के अपने प्रयत्न के कारण ही नहीं होता। वास्तव में) यह (आत्मिक जीवन के निर्माण का) काम (अथवा अपने जीवन और आचरण को दिव्य दिशा और दशा प्राप्त कराने का सौभाग्य केवल) उन साधकों को ही प्राप्त होता है, जिन पर उस प्रभु की कृपा-दृष्टि होती है (अर्थात् आत्म-विकास की ओर प्रवृत्त होना वाहिगुरु की बख़्शिश द्वारा ही सम्भव है; ऐसी किसी भी कोशिश अथवा प्राप्ति के लिए अहंकार नहीं करना चाहिए)।

(पउड़ी के अंत में श्री गुरु जी अपने आप को संबोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! ऐसे, वे भाग्यवान जीव परम कृपालु प्रभु के कृपा-कटाक्ष से कृतार्थ एवं पूर्णकाम, सफल-मनोरथ अथवा हर तरह से तृप्त हो जाते हैं ॥३८॥

[इस पउड़ी में बताया गया है कि आत्म-विकास की यात्रा की चार मंजिलों को तय करने और सच खंड की अंतिम अथवा चरम अवस्था में पहुँचने के लिए साधक को आवश्यक तैयारी और परिश्रम करना पड़ता है। यह काम सुनार के, गहने बनाने के काम की तरह अति सूक्ष्म ही नहीं कठिन भी है और साथ ही यह काम अत्यन्त

---

१. आध्यात्मिक जीवन, दिव्य-चेतना। २. टंकशाला, mint । ३. कृपा-दृष्टि। ४. काम। ५. कृपा-दृष्टि करनेवाला, परमात्मा।

६. गुरमुखि सेवा घाल जिनि घाली॥
तिसु घड़ीऐ सबदु सची टकसाली॥ भैरउ, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ११३४

एकाग्रता, तत्परता, लगन और अध्यवसाय की मांग भी करता है।

जिस प्रकार सोना कुठाली में पड़ कर, भट्टी के दहकते अंगारों का ताप सहन करके पिघलता है और निहाई पर रखा जा कर हथौड़े की चोटों को सहता है और फिर जाकर किसी गहने का रूप धारण करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक साधना के कड़े अनुशासन में बंधकर ही साधक कुन्दन अथवा ख़ालिस और दमकते हुए सोने का खरा सिक्का बनता है; प्रभु द्वारा स्वीकृत होकर परम पद प्राप्त करता है।

इस पउड़ी की तीसरी पंक्ति में परमात्मा के भय की धौंकनी बरतकर तप की अग्नि को प्रचण्ड करने के लिए कहा गया है। परमात्मा के भय की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि इसे मन में बसाये बिना संसार-सागर को पार करना संभव नहीं है।[१] जो व्यक्ति प्रभु के भय में नहीं रहता वह हठधर्मी अथवा दुराग्रही हो जाता है और मनमानी करने लगता है। ऐसा व्यक्ति अहंकार और भ्रमवश संसार में खचित रहता है और गंभीरता-रहित, ओछा तथा ज्ञान-रहित जीवन जीता है। परन्तु जो व्यक्ति प्रभु के भय को अपने मन में प्रेम-पूर्वक टिका लेता है, वह हर समय प्रभु को हाज़िर-नाज़िर जानकर प्रभु के गुण गाता रहता है।[२] समय पाकर, वह स्वाभाविक रूप से प्रभु के भय में जीने लगता है। इसके फलस्वरूप उसके मन में प्रभु से मिलने की इच्छा बनी रहती है और वह गुरु के शब्द अथवा गुरुवाणी द्वारा प्राप्त होने वाले उपदेश के अनुसार अपना जीवन व्यवस्थित कर लेता है।

'तप' का साधारण अर्थ भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि सहने की क्रिया अथवा कोई कष्टदायक व्रत या प्रायश्चित्त आदि है। परन्तु गुरुवाणी के अनुसार, प्रभु-प्राप्ति के लिए शरीर को अनावश्यक कष्ट देना ठीक नहीं।[३] गुरुवाणी में तो सद्गुरु के उपदेश के

---

१. भै बिनु कोइ न लंघसि पारि।।
भै भउ राखिआ भाइ सवारि ॥१॥ रहाउ।।
भै तनि अगनि भखै भै नालि।।
भै भउ घड़ीऐ सबदि सवारि।।
भै बिनु घाड़त कचु निकच।।
अंधा सचा अंधी सट।। २।।

गउड़ी गुआरेरी, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १५१

२. निरमलु भउ पाइआ हरि गुण गाइआ,
हरि वेखै रामु हदूरे।। सूही महला ४, वही, पृष्ठ ७७४

३. तनु न तपाइ तनूर जिउ बालणु हड न बालि।।
सिरी पैरी किआ फेड़िआ अंदरि पिरी सम्हालि।। सलोक वारां ते वधीक, वही, पृष्ठ १४११-१२

अनुसार अपने जीवन को ढालना, परमात्मा को अपने मन में बसाना, दिन-रात प्रभु के रंग में रंगे रहना, आदि को श्रेष्ठ तप माना गया है।[१]

इस प्रकार अपने जीवन, चरित्र और स्वभाव को, गुरुवाणी के अनुसार, नये सांचे में ढालने के लिए व्यावहारिक एवं सहज ढंग बताते हुए श्री गुरु नानक साहिब ने यह चेतावनी भी दी है कि इस राह पर चलते हुए किसी भी व्यक्ति को कभी भी यह नहीं भूलना चाहिए कि इस दिशा में वे भाग्यवान् व्यक्ति ही प्रवृत्त होते हैं जिन पर प्रभु की कृपा होती है। इसलिए अहंकार से सदा दूर रहकर वाहिगुरु से उसकी बख़्शिश की निरन्तर याचना करते रहना चाहिए।

'जपु-नीसाणु' — 'श्री जपुजी साहिब'— नामक वाणी की कुल ३८ पउड़ियाँ समाप्त हो चुकी हैं। इनके बाद अन्तिम श्लोक आता है।]

वाहिगुरु तेरा शुक्र है!

१. गुर सेवा तपां सिरि तपु सारु॥
हरि जीउ मनि वसै, सभ दूख विसारणहारु॥

आसा, महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृ. ४२३

अहिनिसि राम रहहु रंगि राते, एहु जपु तपु संजमु सारा हे॥ ३॥

मारू, महला १, वही, पृष्ठ १०३०

जपु तपु संजमु नामु पिआरा॥ मारू, महला ३, वही, पृष्ठ १०६२

नामि रते सदा तपु होइ॥ रामकली, महला १, सिध गोसटि, वही, पृष्ठ ९४१

सलोकु॥

पवणु[1] गुरू, पाणी[2] पिता, माता धरति महतु[3] ॥

[यह अन्तिम श्लोक श्री जपुजी साहिब की समाप्ति पर उपसंहार अथवा अन्त्य-कथन (postlude) के रूप में लिखा गया है। श्री जपुजी साहिब के शुरू में आनेवाले श्लोक की तरह इस श्लोक के अन्त में भी संख्या '१' दी गयी है। इसका अर्थ यह है कि आदि और अन्तिम दोनों श्लोक स्वतन्त्र हैं। इसीलिए इन दोनों श्लोकों की गिनती श्री जपुजी साहिब की पउड़ियों में नहीं की गयी है।

इस श्लोक में श्री जपुजी साहिब के मुख्य आशय को दुहराते हुए सर्व-विश्व-भ्रातृत्व—universal brotherhood—का उपदेश दिया गया है और परब्रह्म परमात्मा को सबका कर्ता एवं पिता मानकर उसकी भक्ति करने का आदेश दिया गया है।

इस श्लोक की पहली पंक्ति में 'पवन' को शब्द का प्रतीक माना गया है। आकाश या स्पेस space में किसी भी प्रकार से पैदा होने वाली हलचल, अथवा किसी प्रकार के आघात के कारण उत्पन्न होने वाली कंपन को शब्द कहा जाता है। इसकी तरंगें वायु, जल आदि में से गुजर कर, हमारे कानों तक पहुँच कर सुनाई पड़ती हैं। यह शब्द दो प्रकार का है— वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। वायु की सहायता से कण्ठ, तालु, दन्त, जीभ, ओष्ठ आदि द्वारा पैदा होने वाले शब्द को वर्णात्मक शब्द कहते हैं और अन्य प्रकार से पैदा होने वाले शब्द को ध्वन्यात्मक। इसके अतिरिक्त गुरुवाणी के पदों को भी शब्द कहा जाता है।

विचारों का आदान-प्रदान शब्दों की सहायता से ही सम्भव है। मानवता का सम्पूर्ण ज्ञान शब्दों पर ही आश्रित है। इसीलिए महाकवि, आचार्य दण्डी ने कहा है कि यदि सृष्टि में शब्द रूपी प्रकाश न होता तो तीनों लोक अन्धकार में डूब जाते।[4]]

(शब्द, जो हमारे सब प्रकार के ज्ञान का कारण है वायु में थिरकन पैदा होने से हमारे कानों तक पहुँचता है। इसलिए) पवन सारे संसार का गुरु (ज्ञान-दाता) है। (शब्द का उच्चारण करने के लिए वायु की ज़रूरत पड़ती है। शब्द को सुनने के लिए भी वायु की ज़रूरत होती है। अत: यहाँ पवन अथवा वायु 'शब्द' का प्रतीक है। ज्ञान शब्द द्वारा ही संभव है। अत: पवन जीवों का गुरु है। प्रिंसीपल तेजा सिंघ जी का कहना है कि हवा को इसलिए भी गुरु कहा गया है क्योंकि ''जैसे गुरु के बिना मनुष्य की सुरत अथवा

१. पवन, हवा। २. पानी, जल। ३. महत्, विशाल, बृहत् ।

४. इदमन्धं तमः कृत्सनं जायेत भुवनत्रयम्॥
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ *काव्यादर्श*, परिच्छेद १, श्लोक ४

दिवसु[१] राति, दुइ[२] दाई दाइआ, खेलै सगल[३] जगतु ।।[४]

सुध मुरदा रहती है, वैसे ही स्थूल शरीर हवा के बिना साँस नहीं ले सकता और न ही बोल सकता है[५]।" यहाँ एक और बात ध्यान देने योग्य है। माता-पिता द्वारा जन्म दिये जाने पर भी यदि शरीर में साँस द्वारा प्राण-वायु का संचार न हो तो शरीर मुरदा ही रहता है। जीवित रहने के लिए जैसे वायु ज़रूरी है, उसी प्रकार मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए गुरु-शब्द, अर्थात् आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक द्वारा दिया गया ज्ञान, अनिवार्य है। प्राण के बिना जीवन संभव नहीं और गुरु-शब्द के बिना आध्यात्मिक ज्ञान!)

(सारी उत्पत्ति जल से होने के कारण) पानी सब का पिता है।[६] और (सब जीवों को अपनी गोद में उठाये रखकर, उनके पालन-पोषण के लिए नाना प्रकार के खाद्य और अन्य आवश्यक पदार्थ जुटाने के कारण) धरती वृहत् या विशाल माता है। (इस पहली पंक्ति का भावार्थ यह है कि सृष्टि के विभिन्न जीवों और वनस्पति आदि की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि के लिए वायु, जल और धरती आदि का अपना-अपना विशेष महत्त्व है। इसलिए लाक्षणिक अर्थों में पवन गुरु, पानी पिता और धरती माता है।

जैसे माता-पिता अपने बच्चों की देख-भाल करने और उन्हें खेल आदि में व्यस्त रखने के लिए किसी धाय आदि को नियुक्त कर लेते हैं, उसी तरह परम-पिता, वाहिगुरु ने) दिन और रात दोनों को दाया (male nurse) और दाई (धाय—female nurse) के

---

१. दिवस, दिन। २. दोनों। ३. सारा।

४. ये पंक्तियाँ मारू सोलहे, महला १ में इस प्रकार दी गयी हैं—

पउणु गुरू पाणी पित जाता।। उदर संजोगी धरती माता।।
रैणि दिनसु दुइ दाई दाइआ जगु खेलै खेलाई हे।। १०।। श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १०२१

५. *जपुजी सटीक* (चंडीगढ़, केंदरी सिंघ सभा, अकेडमी) पृष्ठ १११

६. गुरुमत के अनुसार पहले निरंजन, निराकार, सत्य-रूप परब्रह्म परमात्मा से वायु, फिर वायु से जल और जल से विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य है। गुरुवाक् है—

साचे ते पवना भइआ पवनै ते जलु होइ।।
जल ते त्रिभवणु साजिआ घटि घटि जोति समोइ।। सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ, १९

मानव-शरीर की रचना भी माता के रक्त और पिता के वीर्य से होती है। ये दोनों जल रूप ही हैं—

मा की रकतु पिता बिदु धारा।। मूरति सूरति करि आपारा।।
जोति दाति जेती सभ तेरी, तू करता सभ ठाई हे।। ४।। मारू, महला १, वही, पृष्ठ १०२२

चंगिआईआ[१] बुरिआईआ[२], वाचै[३] धरमु हदूरि[४]॥
करमी[५] आपो आपणी, के[६] नेड़ै के दूरि॥
जिनी[७] नामु धिआइआ[८], गए मसकति[९] घालि[१०]॥

रूप में नियुक्त किया हुआ है। (इनकी गोद एवं संरक्षण में) सारा जगत् खेल रहा है। (इसका भाव यह है कि दिन संसार को अनेक कार्य-व्यापारों में व्यस्त रखता है और रात्रि उसे थके हुए शिशु की तरह आराम करने के लिए थपथपा कर सुला देती है। इस प्रकार अपने परम पिता परमात्मा को भूल कर सारा जगत् दिन-रात माया के रंग-तमाशों अथवा मोह-जाल में मस्त रहता है।)

(दिन-रात संसार में लिप्त रहने वाले जीवों को श्री गुरु जी सचेत करते हुए याद दिलाते हैं कि अपनी संसार-यात्रा के दौरान जीव, जो भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, कर्म करता है उन पर सख़्त निगरानी रखी जा रही है और) धर्म (धर्मराज अथवा सर्वोच्च, अलौकिक न्यायाधीश अपनी सर्वव्यापक) उपस्थिति में (जीवों की) अच्छाइयों और बुराइयों (अर्थात् उनके किये हुए अच्छे और बुरे, समूह कर्मों) पर विचार करता है।

(सभी के कर्मों को धर्म अथवा दैवी विधान की कसौटी पर परखा जाता है और) अपने-अपने किये हुए कर्मों के परिणाम के अनुसार कई जीव प्रभु-परमात्मा के निकट और कई परमात्मा से दूर हो जाते हैं। (इसलिए सदा सावधान रहने और परमात्मा को निरन्तर मन में बसाये रखने की ज़रूरत है। इसका भाव यह है कि परमात्मा सदा, सब जगह हाज़िर-नाज़िर है। वह सब कुछ सुन रहा है और देख रहा है।[११] उस प्रभु से कोई कुछ नहीं छिपा सकता। वास्तव में, वह सब जीवों के अन्दर ही बैठा हुआ है। जीवों के अन्दर ही उसका तख़्त अथवा सिंहासन है। अत: जीवों के अन्दर बैठा हुआ वह आप ही जीवों के कर्मों का न्याय करता जा रहा है[१२]। प्रभु की परख के अनुसार जो जीव खरे उतरते हैं, उन्हें वह अपने ख़ज़ाने में अथवा अपने पास रख लेता है। ऐसे जीवों

---

१. अच्छाइयाँ, अच्छे कर्म। २. बुराइयाँ, बुरे कर्म। ३. वाचन करता है, पढ़ता, विचारता है। ४. उपस्थिति में। ५. करनी, करतूत। ६. कई (जीव)। ७. जिन्होंने। ८. रसुमरिन किया। ९. मशक़्क़त, कठोर श्रम। १०. (सफल) करके।

११. ए मन मत जाणहि हरि दूरि है, सदा वेखु हदूरि॥
सद सुणदा सद वेखदा, सबदि रहिआ भरपूरि॥ १॥ रहाउ॥
आसा, महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृ. ४२९

१२. अंदरि राजा तखतु है, आपे करे निआउ॥ मारू वार, महला ३, वही, पृष्ठ १०९२

नानक, ते[1] मुख उजले[2], केती[3] छुटी नालि॥ १॥

को परवान या स्वीकार कर लिया जाता है; उन्हें परमात्मा की निकटता प्राप्त हो जाती है। जो जीव प्रभु की परख में खोटे साबित होते हैं, उन्हें खोटे सिक्कों की तरह बाहर फेंक दिया जाता है।[4] खोटे जीवों को प्रभु की दरगाह में स्थान नहीं मिलता; वे प्रभु से दूर हो जाते हैं। अत: हमें प्रभु को सदैव अपने निकट उपस्थित समझना चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति परमात्मा को अपने निकट समझता है वह बुरे काम करने से बचा रहता है।[5] स्पष्ट है कि हर व्यक्ति को कदम-कदम पर सावधान रहने और परमात्मा को निरन्तर याद रखने की ज़रूरत है। परमात्मा को अपने निकट समझने और निरन्तर याद रखने के लिए उसका निरन्तर सुमिरन करना सब से सरल साधन है।)

(श्लोक के अन्त में, श्री गुरुजी अपने आप को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं—) हे नानक! (संसार-यात्रा के दौरान) जिन्होंने परमात्मा का नाम अपने ध्यान में रखा है, (अर्थात् परमात्मा को सदा याद रखकर अपना जीवन उसकी हुज़ूरी में बिताया है) वे उज्ज्वल मुखवाले हैं (अर्थात् उनके मुख लोक एवं परलोक में सदैव उजले रहते हैं; वे निर्दोष तथा निष्कलङ्क रहते हैं। ऐसे उज्ज्वल-मुख सज्जन आप भव-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं) और ऐसे प्रभु-परायण, गुणीजनों के संपर्क में आने वाले कितने ही और जीव भी (माया-मोह और सांसारिक बन्धनों से) विमुक्त हो जाते हैं (जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं) ॥१॥

[इस अन्तिम श्लोक को श्री जपुजी साहिब का उपसंहार (epilogue) माना जाता है। श्री जपुजी साहिब में निरूपित उपदेश का सार अति संक्षेप रूप में यहाँ दोहराया गया है। इसमें सारी सृष्टि को एक विराट् परिवार और सृष्टि-वासियों को परम पिता परमात्मा के बच्चों के रूप में चित्रित किया गया है।

करता पुरुष, परमात्मा ने सृष्टि रूपी खेल रचा दिया है[6]। उसने एक विराट् रंगशाला

---

१. वे। २. उज्ज्वल, निष्कलंक। ३. कितनी ही (और संगति)।

४. आपे कुदरति साजि कै, आपे करे बीचारु॥
इकि खोटे इकि खरे, आपे परखणहारु॥
खरे खजानै पाईअहि, खोटे सटीअहि बाहरवारि॥
वार माझ, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १४३

५. निकटि बुझै सो बुरा किउ करै॥ भैरउ महला ५, वही, पृष्ठ ११३९

६. तुधु आपे जगतु उपाइ कै आपि खेलु रचाइआ॥ वार सोरठि, महला ४, वही, पृष्ठ ६४३
जगतु उपाइ खेलु रचाइआ॥ मारू, महला १, वही, पृष्ठ १०३१

रच कर, देश और काल दोनों की दृष्टि से एक बहुत बड़े नाटक का मंचन आरम्भ करके सब को व्यस्त कर दिया है।[१] इस रंगशाला के विशाल मंच पर हरेक जीव अपना-अपना अभिनय कर रहा है। इस खेल को चालू रखने के लिए आवश्यक सुविधाओं के रूप में धरती, पानी, हवा, दिन, रात आदि की व्यवस्था भी कर दी गयी है।

जैसे बच्चों को जन्म देने के लिए माता-पिता का होना जरूरी है,[२] उसी तरह उनके जीवित रहने के लिए हवा, पानी और खाद्यान्न आदि भी अनिवार्य हैं। धरती से जीवों के शरीरों के लिए 'मिट्टी' प्राप्त होती है और धरती से उत्पन्न होने वाले विभिन्न पदार्थों की सहायता से जीवों का जीवन चलता है। इसलिए धरती को विशाल माता कहा गया है।

सम्पन्न माता-पिता अपने बच्चों की देखभाल और उनके मन-बहलाव के लिए धाय आदि का प्रबन्ध करते हैं। परम पिता परमात्मा ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दिन और रात बना दिये हैं। दिन जीव रूपी बच्चों को भाँति-भाँति के कार्य-व्यापार रूपी खेलों में व्यस्त रखता है। दिन-भर अनेक तरह के खेल खेलकर थक जाने पर रात उन्हें आराम करने के लिए सुला देती है।

वास्तव में, दिन और रात समय अथवा काल-चक्र के प्रतीक हैं। इस काल-चक्र में ही जीव जन्म लेता है; समय के अनुसार शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास के अवसर प्राप्त करता है और अपना जीवन-काल समाप्त होने पर इस संसार के मंच से कूच कर जाता है। इस प्रकार, इस संसार में, हरेक जीव समय और स्थान— time and space— की सीमा में बंधा हुआ अपनी जीवन-यात्रा तय करता है।

इस संसार रूपी रंगशाला के खेल को इसका रचयिता, कर्ता पुरुष, वाहिगुरु स्वयं देख रहा है[३] और इसे अपने हुक्म अथवा विधान के नियन्त्रण में चला रहा है।[४] अपने जीवन-काल में किये गये हरेक अच्छे-बुरे कर्म का फल भुगतने के लिए जीव बाध्य है, विवश है।[५] परमात्मा स्वयं हरेक जीव के हर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कार्य का साक्षी है।[६] अपने किये हुए कर्मों के परिणामस्वरूप कई जीव आत्म-विकास के पथ पर आगे

---

१. जगतु उपाइ तुधु धंधै लाइआ भूंडी कार कमाई॥
भैरउ, महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ११५५

२. जैसे मात पिता बिनु बालु न होई॥ — गोंड, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ ८७२

३. जिनि उपाई, रंगि रवाई, बैठा वेखै वखि इकेला॥ — तिलंग, महला १, वही, पृष्ठ ७२३
सभ होई छिंझ इकठीआ, दयु बैठा वेखै आपि जीउ॥ — सिरीरागु, महला ५, वही, पृष्ठ ७४

४. हुकुमु साजि, हुकमै विचि रखै, हुकमै अंदरि वेखै॥ — सलोकु, महला २, वही, पृष्ठ १२४३
हुकमै अंदरि सभु को, बाहरि हुकम न कोइ॥ — जपु, पउड़ी २, वही, पृष्ठ १

५. कीता आपो आपणा, आपे ही लेखा संढीऐ॥ — वार आसा, महला १, वही, ४७३

६. मेरा प्रभु अंतरि बैठा वेखै॥ — माझ, महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १२३

बढ़कर परमात्मा के निकट हो जाते हैं और कई पिछड़ कर प्रभु से दूर हो जाते हैं और जनम-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं। इसलिए, यह नहीं मान बैठना चाहिए कि इस जन्म के बाद हमें फिर भी मानव जन्म ही प्राप्त होगा और तब हम प्रभु का सुमिरन अथवा प्रभु की भक्ति कर लेंगे। वास्तव में, वर्तमान मानव-जन्म प्रभु-प्राप्ति का दुर्लभ अवसर है। इसे यों ही गँवा देना किसी तरह भी उचित नहीं ठहराया जा सकता।[१]

इस श्लोक में इसीलिए इस तथ्य पर विशेष बल देकर समझाया गया है कि संसार-सागर से छुटकारा केवल नाम-साधना द्वारा अर्थात् परमात्मा का निरन्तर सुमिरन करते हुए, उसकी हुज़ूरी में जीवन बिताने से ही सम्भव है।[२] जो व्यक्ति सदा वाहिगुरु की याद में जुड़े रहते हैं और उसकी रज़ा में राज़ी रहते हैं, वे ही मनुष्य का जन्म लेने के अपने श्रम को सफल कर जाते हैं। ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति ही परमात्मा के दरबार में सुर्ख़रू होते हैं, प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे प्रभु-परायण व्यक्तियों के सम्पर्क में आने वाले कितने ही और लोग भी, उनके प्रभाव में आकर, उनके पगचिह्नों पर चलने लगते हैं और इसके परिणामस्वरूप वे भी भव-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[३] इसका भाव यह है कि हरेक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन का प्रयोजन पूरा करने के लिए अंतिम साँस तक अपने मन को परमात्मा की याद में जोड़े रखे, प्रभु का सुमिरन करता रहे।[४] गुरुवाणी का फ़रमान है कि एक भी श्वास जो प्रभु के नाम के बिना, प्रभु की याद के बिना, जाता है वह श्वास व्यर्थ जाता है, बेकार जाता है।[५]

'नानक, नाम चढ़दी कला
तेरे भाणे, सरबत दा भला।'

---

१. इही तेरा अउसरु इह तेरी बार॥ घट भीतरि तू देखु बिचारि॥ भैरउ, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ ११५९
इसु पउड़ी ते जो नरु चूकै, सो आइ जाइ दुखु पाइदा॥ मारू, महला ५, वही, पृष्ठ १०७५

२. कहु नानक इहु ततु बीचारा॥ बिनु हरि भजन नाही छुटकारा॥ गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ १८८
कल मै मुकति नाम ते पावत, गुरु यह भेदु बतावै॥ बिलावलु, महला ९, वही, पृष्ठ ८३१

३. जो तुधु सचु धिआइदे, से विरले थोड़े॥
जो मनि चितु इकु अराधदे
तिन की बरकति खाहि असंख करोड़े॥ गउड़ी की वार, महला ४, वही, पृष्ठ ३०६
हरि इकसु हथि आइआ, वरसाणे बहुतेरे॥
तिसु लगि मुकतु भए घणेरे॥ माझ, महला ५, वही, पृष्ठ १०१

४. सासि सासि सिमरहु गोबिंद॥ मन अंतर की उतरै चिंद।गउड़ी, सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २९५

५. सास सास सास है जेते मै गुरमति नामु सम्हारे॥
सासु सासु जाइ नामै बिनु सो बिरथा सासु बिकारे॥ नट, महला ४, वही, पृष्ठ ९८०

परिशिष्ट-१
मंगलाचरण

यह मंगलाचरण, अपने इस पूरे और तीन अन्य संक्षिप्त रूपों में, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में, विभिन्न रागों और बड़ी वाणियों आदि के शुरू में ५६७ बार आया है। इसे श्री जपुजी साहिब का भाग नहीं माना जा सकता और न ही उन वाणियों का जिनके आरंभ में इसे अंकित किया गया है। मंगलाचरण तो लेखक द्वारा अपनी रचना या ग्रन्थ आदि के आंरभ में उसकी सफल समाप्ति और मंगल की कामना के लिए अपने इष्ट की आराधना अथवा याद के रूप में अंकित किया जाता है।[१]

इस संक्षिप्त गद्य रचना को सिक्ख दर्शन अथवा गुरुमत दर्शन का मूल-मन्त्र, मूल तत्व भी कहा जाता है। इसलिए इसका अर्थ-भाव तनिक विस्तार से समझ लेना ज़रूरी है।

श्री गुरु नानक देव जी ने अपने इष्ट, स्वत:प्रमाण अथवा स्वत:सिद्ध वाहिगुरु, या परब्रह्म परमात्मा की सत्ता के बारे में कोई तर्क या प्रमाण प्रस्तुत न करके, अपने दैवी अनुभव के आधार पर[२] उसका निरूपण करते हुए, उसके प्रतीक के रूप में, मंगलाचरण के शुरू में, ੴ (इक ओअंकार अथवा एक ओअंकार) अंकित किया है।

भारतवर्ष में 'ओम्' या 'ओंकार' प्राचीनकाल से परब्रह्म के वाचक के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। परन्तु, 'ओम्' के तीन घटक वर्णों 'अ', 'उ' और 'म्' के आधार पर इसे जीव की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति— के अतिरिक्त त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और महेश —और ऐसे ही अनेक त्रिकों (triads) का वाचक भी माना जाता रहा है। लोगों ने इन तीनों देवताओं को अलग-अलग समझ कर उनकी आराधना शुरू कर दी और इस प्रकार अलग-अलग सम्प्रदाय बन गये। समय पाकर परब्रह्म के एकत्व की भावना लगभग समाप्त ही हो गयी और बहुदेववाद का बोलबाला हो गया। श्री गुरु नानक साहिब बहुदेववाद में विश्वास नहीं रखते थे। उन्हें प्रकृति और पुरुष का द्वैत सिद्धान्त भी स्वीकार नहीं था और न ही वे जाति-पाँति को मानते थे। इसलिए बहुदेववाद, द्वैतवाद और जाति-पाँति का खण्डन करने और परब्रह्म परमात्मा के एकत्व में अपने सुदृढ़ विश्वास को व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'ਓ' (ओअंकार) से पहले '१' अंक लगाकर इस समस्तपद (ੴ एक ओअंकार अथवा इक ओअंकार) का 'केवल एक परमात्मा' अर्थ करने में किसी प्रकार के सन्देह या भ्रम की गुंजाइश ही समाप्त कर दी। परम सत्ता, परब्रह्म परमात्मा केवल और केवल एक ही है इस तथ्य को गुरुवाणी में अनेक स्थलों पर दोहराया गया है।[३] अत: ੴ उस अगोचर परम सत्ता का बोधक प्रतीक है जो केवल एक ही है, जो निराकार भी है और साकार भी, जो निर्गुण भी

है, सगुण भी और सर्वगुण-सम्पन्न भी। वह परोक्ष सत्ता निर्पेक्ष, निर्द्वन्द्व, निरंकुश, अखण्ड तथा सर्वव्यापक है और सदा, सर्वथा सम्पूर्ण रहती है।

परमब्रह्म परमात्मा अपनी रज़ा या मरज़ी से अपनी शून्य अवस्था[४] से एकंकार होता है और फिर ओअंकार रूप में रचना करता है।[५] इस प्रकार परमात्मा एक से अनेक होता है। परन्तु उस अनेकता में भी वह एक ही रहता है और जब चाहता है अनेकता को समेट लेता है।[६]

'सति' और 'सचु' संस्कृत के शब्द 'सत्य' के समानार्थक हैं। 'सत्य' का अर्थ है 'यथार्थ' अथवा 'वास्तविकता', अर्थात् जो केवल कल्पना नहीं है। 'सत्य' शब्द 'सत्' से बना है, जिसका अर्थ है 'वर्तमान', 'विद्यमान', 'मौजूद' या 'है'।[७] परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है।[८] इस प्रकार 'सति' या 'सचु' शब्द परब्रह्म परमात्मा का वाचक है।[९] परमात्मा कोई ख़्याली या मनघड़न्त सत्ता नहीं है बल्कि एकमात्र ऐसी निर्विवाद, पारमार्थिक वास्तविकता है जो सदा कायम रहती है, जिसमें कभी कोई विकार नहीं आता; जो अपरिणामी है और सदा एकरस रहती है।

परमात्मा का अस्तित्व ही उसकी ज़ात है; उसका स्वरूप या निजरूप है। अत: उसके अस्तित्व का वाचक शब्द 'सति' है। क्योंकि केवल परमात्मा ही 'सति' है, सदा कायम रहने वाला है[१०] इसलिए 'सति' परमात्मा का वास्तविक नाम है। परमात्मा के अन्य नाम तो लोगों द्वारा, उसके भिन्न-भिन्न गुणों के आधार पर रखे हुए हैं। इसलिए वे परमात्मा के कर्म-नाम या कृत्रिम नाम हैं।[११]

हम जानते हैं कि जिस शब्द के द्वारा किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, समूह आदि का बोध हो उसे उस व्यक्ति आदि का 'नाम' कहा जाता है। परन्तु किसी व्यक्ति, वस्तु आदि की पहचान के लिए उसके नाम के अलावा उसके आकार अथवा रूप का ज्ञान होना भी ज़रूरी है। परन्तु परमात्मा के असंख्य रूप होने के बावजूद उसका अपना कोई विशेष रूप या आकार नहीं है।[१२] अत: परमात्मा का 'नाम' ही उसका स्वरूप है उसकी पहचान है। इसका भाव यह है कि परमात्मा केवल 'नाम' है। इस प्रकार 'नाम' का अर्थ है परमात्मा या उसकी सत्ता और उसकी सत्ता का बोध अथवा अनुभूति भी। 'नाम' अथवा परमात्मा ही सारे ब्रह्माण्ड का कारण है।[१३] सब कुछ 'नाम' से ही पैदा हुआ है।[१४] इसलिए संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब 'नाम' ही है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि की हरेक चीज़ अपने रचयिता, परमात्मा की सत्ता अथवा विद्यमानता की ओर संकेत करती है। अत: कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह स्वयं उपस्थित न हो।[१५]

'नाम' का अर्थ 'नाम-जप', 'नाम-सुमिरन' अथवा 'नाम-साधना' भी है। नाम सबसे श्रेष्ठ तत्व है।[१६] नाम ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और कर्म भी।[१७] नाम के अतिरिक्त सभी

जप, तप, ज्ञान, ध्यान, स्मृतियों और शास्त्रों का अध्ययन, योग-अभ्यास, कर्म-काण्ड; सब कुछ त्याग कर वनवास करना, दान, पुण्य, व्रत, नियम तथा अनेक प्रकार के अन्य यत्न आदि नाम-सुमिरन की बराबरी नहीं कर सकते।[१८] अत: 'नाम' ही मुक्ति प्राप्त करने की सर्वोत्तम युक्ति है।[१९] इसीलिए, गुरुवाणी में प्रभु का नाम जपने की बार-बार हिदयात की गयी है।[२०] परन्तु 'नाम जपना' का अर्थ परमात्मा के किसी नाम का केवल मुँह से उच्चारण करना ही नहीं है, और न ही लोगों को प्रभावित करने के लिए नाम जपने का दिखावा मात्र करना है। नाम का जप या सुमिरन करते समय पूर्ण सद्भाव, प्रभु के प्रति उत्कट प्रेम और नाम के अर्थ भाव की ओर ध्यान की एकाग्रता का होना तथा प्रभु-मिलन के लिए ललक होना ज़रूरी है। जो मनुष्य दिखावा छोड़कर, अपने दिल में प्रभु का नाम जपता रहता है अर्थात् प्रभु को अपनी चेतना या मन में बसा लेता है, वही जानता है कि 'नाम' कैसा गुणकारी है।[२१] ऐसा व्यक्ति ही मोक्ष अथवा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[२२] नाम-साधना सहज साधना है। अपने सांसारिक कार्य-व्यवहार करते हुए भी इसे बख़ूबी किया जा सकता है। बस, अपने हाथ-पाँव आदि के साथ सभी प्रकार के आवश्यक काम करते हुए भी अपने चित्त, चेतना अथवा ध्यान को उस निरंजन, निराकार, प्रभु-परमात्मा से जोड़े रखना है; परमात्मा को हर समय अपनी याद अथवा चेतना-प्रवाह (stream of consciousness) में बसाकर उसकी हुज़ूरी में जीवन बिताना है।[२३]

सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में कई प्रकार के विचार पाये जाते हैं। परन्तु श्री गुरु नानक देव जी इस प्रकार की किसी बहस में न पड़कर अपने दैवी अनुभव के आधार पर,[२] परमात्मा को 'करता पुरखु' मानते हैं। 'कर्त्ता' का अर्थ है, 'करनेवाला', 'बनानेवाला', 'सृष्टि का रचयिता' आदि। 'पुरखु' अथवा 'पुरुष' का अर्थ है— 'पुरि देहे शेते इति पुरुष:' अर्थात् जो शरीर अथवा सृष्टि में व्याप्त है वह पुरुष है। इस तरह 'करता पुरखु' का अर्थ है— 'सृष्टि का रचयिता जो स्वयं इस में रमा या समाया हुआ है'।[२४]

'पुरखु' से पहले लिखा 'करता' शब्द इस तथ्य पर ज़ोर देता है कि सृष्टि अनादि नहीं है। एक समय था जब सृष्टि का कोई अस्तित्व नहीं था। यह सृष्टि अनन्त और अनश्वर भी नहीं है। यह सृष्टि विभिन्न पदार्थों अथवा अणु-परमाणुओं की पारस्परिक प्रक्रियाओं से अपने-आप भी नहीं बनी है। इसे करतार ने बनाया है।[२५] उस करतार ने न केवल स्थूल पदार्थों की रचना की है बल्कि समय, स्थान तथा सभी अमूर्त एवं सूक्ष्म पदार्थ भी उसी द्वारा रचे गये हैं। सृष्टि का कर्ता केवल एक ही है अनेक नहीं।[२६]

श्री गुरु जी के अनुसार, सृष्टि की रचना के लिए करतार को प्रकृति की सहायता नहीं लेनी पड़ती। वह लौहार, कुम्हार, हलवाई आदि, आम सांसारिक कारीगरों,

की तरह नहीं है जिन्हें कोई उत्पाद या वस्तु बनाने के लिए कई प्रकार के संघटक पदार्थों और औज़ारों, उपकरणों आदि की ज़रूरत पड़ती है। प्रकृति और प्रकृति के नियम भी उसी कर्त्ता-पुरुष के बनाये हुए हैं।[२७] इस प्रकार कर्त्ता-पुरुष, परमात्मा सर्व-समर्थ, सर्वथा परिपूर्ण कर्त्ता है। वह आप ही सृष्टि का कारण भी है और कर्त्ता भी; वह सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी।[२८]

गुरुवाणी के अनुसार, कर्ता-पुरुष निष्क्रिय दर्शक मात्र नहीं है। उसने सृष्टि की रचना करके आप ही इसे काम में लगाया हुआ है[२९] वह आप ही सृष्टि का पालन-पोषण भी करता है।[३०] वह अपनी मरज़ी से, अपने हुक्म अथवा विधान के अनुसार, सृष्टि का संचालन एवं नियंत्रण करता है। वह इसका पथ-प्रदर्शन भी करता है[३१] और इसका विनाश भी।[३२] अत: सारी सृष्टि उस करतार के सहारे खड़ी है। यदि वह इस सृष्टि से अपना सहारा हटा ले तो पलक झपकते ही सब कुछ ग़ायब हो जाये।[३३] स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड के परोक्ष में दैवी सत्ता की चेतना और प्रयोजन काम कर रहे हैं। हाँ, यह बात और है कि सृष्टि-रचना का वह दैवी प्रयोजन और रहस्य मनुष्य की समझ से परे हैं।[३४]

'निरभउ' या 'निर्भय' वह है जिसे किसी का डर न हो; जो किसी से, कभी भी भयभीत न हो। भय उसे होता है जिसके समान या जिससे अधिक बलशाली कोई और भी हो। परन्तु परमात्मा जितना बड़ा है उतना बड़ा वह आप ही है। इसलिए उस अकाल पुरुष का शरीक या रक़ीब कोई नहीं है; उसका प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिस्पर्धी कोई नहीं है।[३५] उसके ऊपर कोई सत्ताधारी या प्राधिकारी (authority) भी नहीं है।[३६] वह स्वयं सारी सृष्टि का प्रमुख या सर्वोच्च कर्ताधर्ता अथवा सर्वेसर्वा है। एक बात और। भय किसी दूसरे से ही होता है। परन्तु परब्रह्म परमात्मा तो केवल एक ही है। और, जो केवल एक ही है उसे भय कैसे हो सकता है?[३७] सारी सृष्टि की उत्पत्ति एकंकार, अर्थात् केवल एक परमात्मा, से हुई है और वह स्वयं इस में समाया हुआ है। अत: वह आप ही सब कुछ है। उसके अलावा दूसरा तो कोई है ही नहीं। अपने आप से भय कैसे हो सकता है?[३८] इसलिए न केवल मंगलाचरण में बल्कि गुरुवाणी में बार-बार परमात्मा को निर्भय कहा गया है।[३९]

भय का एक अर्थ 'अनुशासन' अथवा 'संयम' भी है। सारी सृष्टि परमात्मा के भय, हुक्म या अनुशासन में है।[४०] केवल वह एक आप ही निर्भय है, भयातीत है।[४१] उस पर किसी प्रकार का अनुशासन लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि वह किसी के अधीन नहीं है। वह स्वयं सब का कर्त्ता है।[४२]

परमात्मा निर्वैर है, उस का किसी से वैर अथवा विरोध नहीं है। वैर वह प्रबल मनोभावना है जो किसी अप्रिय वस्तु या व्यक्ति को कोई हानि पहुँचाने अथवा उसका नाश करने के लिए हमें निरंतर प्रवृत्त करती रहती है। यह मनोभावना जातिगत भी हो

सकती है और स्वाभाविक भी। परन्तु मंगलाचरण में परमात्मा को स्वभाव से ही निर्वैर अथवा वैर-रहित बताया गया है।

भय की तरह ही वैर भी किसी दूसरे से ही हो सकता है। परन्तु परमात्मा के समान सर्व-समर्थ किसी दूसरी सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[४३] जैसा पहले भी कहा जा चुका है, उसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है। वह हरेक शरीर में निवास करता है।[४४] इसलिए उससे कोई भिन्न नहीं है। स्पष्ट है कि अपने आपसे किसी का वैर या विरोध नहीं हो सकता। फिर परमात्मा तो सब का कर्त्ता है, सब का पालक एवं पिता है और माता भी।[४५] वह प्रेम-पुरुष है।[४६] सभी से एक समान प्यार करता है। वह सदा कायम रहने वाला है और उसका राज्य भी निश्चल है। अतः उसका कोई कंटक अथवा वैरी हो ही नहीं सकता।[४७]

'काल' का अर्थ है—'समय', 'अंत', 'मृत्यु' आदि और, 'अकाल' का अर्थ है—'कालातीत', 'मृत्यु-रहित'। 'मूर्ति' का अर्थ 'प्रतिमा' भी होता है और 'स्वरूप' अथवा 'शक्ल' भी। परन्तु यहाँ, सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए 'मूरति' का अर्थ प्रतिमा नहीं किया जा सकता क्योंकि परब्रह्म परमात्मा निराकार है। उसका कोई आकार अथवा कोई रूप, रंग या चिह्न नहीं है।[४८] सब जगह, सब जीवों में, व्याप्त होने के कारण उसकी हजारों अर्थात् असंख्य शक्लें हैं परन्तु उसकी अपनी कोई विशिष्ट शक्ल नहीं है।[१२] इसलिए परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं बनायी जा सकती।[४९] यदि कोई व्यक्ति अपनी कल्पना के आधार पर उसकी कोई प्रतिमा बनाता भी है तो वह प्रतिमा परमात्मा की सच्ची प्रतिमा नहीं कही जा सकती।[५०]

'अकाल मूरति' का अर्थ है, वह जिस का स्वरूप, हस्ती या अस्तित्व कालातीत है, काल की सीमा से परे है। अर्थात् जिस पर काल या समय का कोई असर नहीं होता, जो निर्विकार और अनश्वर है।[५१]

मृत्यु उसी की होती है जिसका जन्म या उत्पत्ति होती है। परमात्मा जन्म-मरण से परे है। अयोनि-संभव है।[५२] आदि-अंत रहित और त्रिकालातीत होने के कारण वह अजर-अमर है। उसके सिर पर काल का शासन नहीं है।[५३] इसके विपरीत सारे ब्रह्माण्ड का आदि भी है और अंत भी। इसमें पायी जाने वाली हरेक वस्तु, जीव-जन्तु, हस्तियाँ या अस्तित्व और आकार आदि समय और स्थान की सीमा में बंधे हुए हैं। वे सब काल-मूर्तियाँ हैं, नाशवान हैं। केवल उनका कर्त्ता वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमात्मा ही सदा, सर्वदा, रहने वाली सत्ता है।[५४]

'अजूनी' संस्कृत के शब्द 'अयोनि' अथवा 'अयोनिज' का समानार्थक है। 'योनि' शब्द के अन्य अर्थों के अलावा एक अर्थ है, 'वह जिससे कोई वस्तु या जीव आदि उत्पन्न हो', अर्थात् 'किसी जीव या वस्तु का उत्पादक कारण'। उत्पादक कारणों

के आधार पर जीवों आदि के किये गये वर्ग भी 'योनि' कहे जाते हैं, जैसे— मनुष्य-योनि, पशु-योनि, तिर्यग्योनि आदि। भारतीय धर्म-ग्रन्थों में ऐसी चौरासी लाख योनियाँ मानी गयी हैं।[५५] इस प्रकार 'अजूनी' का अर्थ हुआ 'वह जिसका कोई उत्पादक कारण नहीं है, जो कारण-रहित है, जो जन्म-मरण-रहित है, अजन्मा हैं।'[५६] इस प्रकार 'अजूनी' अथवा 'अयोनि' शब्द वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमात्मा का विशेषण है।[५७]

परमात्मा के लिए 'अजूनी' शब्द का प्रयोग उस विश्वास के प्रतिकूल है जिसके अनुसार माना जाता है कि समय-समय पर परमात्मा किसी मनुष्य आदि के रूप में जन्म लेकर पृथ्वी पर अवतार धारण करता है।[५८] स्पष्ट है कि जन्म लेनेवाला हरेक जीव 'योनिज' कहलाता है क्योंकि जन्म लेने के लिए उसे किसी योनि अथवा उत्पादक कारण पर निर्भर करना पड़ता है। परन्तु परमात्मा तो स्वयं कारण-करण-समर्थ है।[५९] परमात्मा का कोई माता-पिता, सन्तान, रिश्तेदार, जाति, कुल, आदि नहीं है। वह किसी भी एक शरीर में सीमित न होकर सर्वत्र विद्यमान रहता है।[६०] फिर, संसार में जो कुछ भी पैदा हुआ है, उसे कभी न कभी अवश्य मरना है।[६१] परन्तु सर्वव्यापी, कर्त्ता पुरुष, परमात्मा न कभी जन्म लेता है न मरता ही है।[६२] वह तो स्वयं जन्म-मरण के चक्कर का नाश करनेवाला है। जो उसका गायन करता है उसका दुबारा जन्म नहीं होता।[६३]

'सैभं'[६४] संस्कृत के 'स्वयंभू' अथवा 'स्वयंभा' शब्द का समानार्थक है। 'स्वयं' का अर्थ है, 'आप', 'अपने आप' या 'अपनी इच्छा से'। संस्कृत की 'भू' धातु का अर्थ है, 'होना', 'उत्पन्न होना' आदि। परन्तु पुल्लिंग रूप में 'भू' जब किसी समास के अंत में आता है तो इसका अर्थ होता है 'से उत्पन्न होने वाला'।[६५] संस्कृत की 'भा' क्रिया का अर्थ है, 'चमकना', 'दिखायी पड़ना', आदि। इस तरह 'सैभं' का अर्थ हुआ, 'स्वेच्छा से या अपने आपसे प्रकट या प्रकाशित होने वाला'। एक ओअंकार, वाहिगुरु, अथवा परब्रह्म परमात्मा 'आत्मयोनि' है। वह स्वयं ही अपने आपको प्रकट करने का हेतु है। इसका अर्थ यह है कि अपने आपको प्रकट करने के लिए परमात्मा को किसी अन्य कारण की ज़रूरत नहीं पड़ती।[६६] इस प्रकार वह नित्य-चेतन, सर्वशक्तिमान, कर्त्ता पुरुष, परमात्मा स्वत: प्रकाशित सत्ता है। उस स्वयं-प्रकाश, ज्योति-स्वरूप, प्रभु के प्रकाश से ही सम्पूर्ण सृष्टि प्रकाशित हो रही है; सभी में उसकी ज्योति अथवा चेतना काम कर रही है।[६७]

गुरप्रसादि समस्तपद दो शब्दों 'गुर' और 'प्रसादि' के योग से बना है। 'गुर' शब्द 'गुरु' के सम्बन्ध कारक का रूप है जिसका अर्थ है, 'गुरु का, गुरु के' आदि। 'प्रसादि', 'प्रसाद' शब्द के करण कारक का रूप है और इसका अर्थ है 'कृपा द्वारा'। इस तरह गुरप्रसादि का अर्थ है, 'गुरु की कृपा द्वारा'।

'गुरु' शब्द का एक विशेष अर्थ है, 'आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक' जो शिष्य अथवा साधक के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करके उसके मन में ज्ञान का प्रकाश कर देता है।[६८] अज्ञान का अंधेरा इतना विचित्र तरह का अंधेरा है जो सद्गुरु के उपदेश के बिना हट ही नहीं सकता चाहे कितने ही चाँद और सूर्य उदय होकर प्रकाश करने लगें।[६९]

आजकल अपने आपको ज़्यादा पढ़े-लिखे या होशियार समझने वाले कुछ लोग किसी आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक से सहायता लेना ज़रूरी नहीं समझते। मानो वे अपनी आँखों पर मोटी-सी पट्टी बांधकर किसी अनजाने क्षेत्र में, किसी अनजानी मंज़िल पर पहुँचने की ज़िद करते हैं। परन्तु अपनी मंज़िल पर पहुँचना तो दूर, वे रास्ते में ही भटकते रह जाते हैं। ऐसे लोग उन मिथ्या तिल के पौधों की तरह हैं जो अन्य तिल के पौधों के समान ही फलते-फूलते तो हैं, परन्तु उनकी फलियों में तिल नहीं होते। वे अन्दर से ख़ाली रहती हैं और इसलिए ऐसे पौधों को खेत में यों ही छोड़ दिया जाता है। अत: जो व्यक्ति अपने आपको अधिक चतुर समझ कर गुरु की शरण में नहीं जाता वह भीतर से खोखला ही रहता है, उसके मन में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता।[७०]

जिस व्यक्ति का कोई आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक नहीं होता, उसे निगुरा (मनमुखी या स्वेच्छाचारी) कहा जाता है। धार्मिक समाज में ऐसे व्यक्ति को निकृष्ट माना जाता है।[७१] ऐसा व्यक्ति चाहे बहुत-सी बातें करना जानता हो और लोग उसे महान् विद्वान भी समझते हों तो भी वह परमात्मा के दरबार में भ्रष्ट ही माना जाता है।[७२] जो व्यक्ति गुरु की शरण में नहीं जाता उसे कोई उच्च आत्मिक अवस्था प्राप्त नहीं होती। ऐसे व्यक्ति को अवगुण लूटते रहते हैं और जीवन यात्रा में वह विकारों की चोटें खाता रहता है।[७३] जो निगुरे व्यक्ति प्रभु परमात्मा को छोड़कर उसकी दासी, माया को याद करते रहते हैं, अर्थात् धन-दौलत, संसार एवं सांसारिकता में आसक्त रहते हैं, और हरि-भक्तों की निन्दा करते हैं वे पशु के समान हैं।[७४]

आध्यात्मिक ज्ञान केवल अपने प्रयास या अपनी चतुराई से प्राप्त नहीं किया जा सकता। किसी प्रकार का लौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी किसी विषय-विशेष के जानकार अथवा विशेषज्ञ की सहायता लेनी ही पड़ती है। फिर, आध्यात्मिक ज्ञान तो सांसारिक ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म, दुर्बोध एवं रहस्यमय है। इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु की शरण में जाना अनिवार्य है।[७५] जैसे अंधेरा होने पर कुछ देखने-खोजने के लिए दीपक जलाकर रोशनी करना ज़रूरी है, उसी प्रकार अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए गुरु से ज्ञान प्राप्त करना ज़रूरी है।[७६]

इस तथ्य की ओर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है कि हरेक व्यक्ति आध्यात्मिक गुरु नहीं हो सकता और कच्चे गुरु की सहायता से कोई भी व्यक्ति मुक्ति

प्राप्त नहीं कर सकता।[७७] सद्गुरु वही हो सकता है जिसने स्वयं ब्रह्म को जान लिया हो[७८], परमात्मा को पा लिया हो, जो अंदर से परमात्मा की तरह ही समदर्शी[७९] तथा नवैर हो और जो सब में, सब जगह केवल एक ब्रह्म को ही देखता हो।[८०] ऐसा गुरु अकाल पुरुष परमात्मा से निरन्तर जुड़ा रहता है। परमात्मा उसके माध्यम से अपने दिव्य संदेश संसार तक पहुँचाता है।[८१] ऐसे आत्मदर्शी को परमात्मा का रूप ही समझा जाता है।[८२]

यह कहना अप्रासांगिक न होगा कि आध्यात्मिक ज्ञान केवल बुद्धि का विषय नहीं है। वास्तव में यह मनोभावना और हृदय-परिवर्तन का विषय है क्योंकि यह ज्ञान आत्मा-परमात्मा से संबंधित है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक जिज्ञासा की पूर्ति का साधन न होकर प्रभु परमात्मा से एकाकार होने का साधन है। यही कारण है कि बौद्धिक संतुष्टि के लिए धर्म के बारे में अधिक से अधिक जानकारी रखने वाले अनेक व्यक्तियों के जीवन और व्यवहार में अपेक्षित सुधार नहीं पाया जाता। धर्म के बारे में उनकी जानकारी उनके दैनिक जीवन की पथ-प्रदर्शक नहीं बनती; उनके व्यवहार से नहीं झलकती। इसीलिए कहा जाता है कि गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान का लाभ तभी होगा जब शिष्य, साधक अपने अंहकार, चतुराई आदि को त्यागकर, उसको अपने हृदय में धारण कर ले और दत्तचित्त होकर, पूरे उत्साह और निष्ठा से गुरु द्वारा दिखाये रास्ते पर अग्रसर हो। सद्गुरु के उपदेश को आत्मसात् किये बिना अज्ञान रूपी अंधकार से छुटकारा नहीं पाया जा सकता।[८३]

अधिकांश लोग गुरु के शरीर को ही सब कुछ समझ कर व्यक्ति-पूजा में उलझकर रह जाते हैं। परन्तु गुरु के शरीर का ध्यान करने से मानव जीवन के मनोरथ की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[८४] गुरु का शरीर जड़ है और नश्वर भी।[८५] वास्तव में, देहधारी गुरु की पूजा, जो एक प्रकार से व्यक्ति-पूजा ही है, शिष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधक भी हो सकती है। इस भय या आशंका का निवारण भी नहीं किया जा सकता कि देहधारी गुरु अपने शिष्य की अन्ध-श्रद्धा का अनुचित लाभ नहीं उठायेगा और उसका शोषण नहीं करेगा। इसीलिए भक्त कबीर जी हमें चौकस करते हुए फ़रमाते हैं कि कोई भी चालाक व्यक्ति धार्मिक ढोंग करके साधारण, भोले-भाले लोगों को ठग सकता है।[८६]

गुरु का शरीर गुरु नहीं होता, गुरु का उपदेश ही वास्तविक गुरु, अथवा आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत होता है। गुरु के उपदेश के अनुरूप अपना जीवन बना लेने पर ही संसार के मायाजाल से मुक्ति संभव है। गुरु के बताये रास्ते पर चलना, गुरु के उपदेश को अपनी विचारधारा बना लेना और अपने अहं को मारना ही गुरु की असली सेवा है।[८७] पंचम नानक, श्री गुरु अर्जुन देव, जी का कथन है कि हरिनाम का सुमिरन ही देव-पूजा है और गुरु-परमेश्वर की सेवा भी।[८८] गुरु 'शब्द' अथवा अपनी वाणी द्वारा ही अपने विचार प्रकट करता है। गुरु के शब्द द्वारा ही शिष्य-साधक के मन के कपाट

खुलते हैं और उसमें आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश होने पर वहाँ फैले अज्ञान-अंधकार का विनाश हो जाता है।[८९] अतः गुरु का शब्द, गुरु की वाणी अथवा गुरुवाणी ही वास्तविक गुरु है।[९०]

सद्गुरु सदा कायम रहने वाली सत्ता है। वह अविनाशी पुरुष है जो न कभी पैदा होता है न मरता है।[९१] वह युग-युग में, अर्थात् हरेक युग में, हर समय मौजूद रहता है।[९२] धरती और आकाश में सर्वत्र उस की ज्योति का प्रकाश है, वह गोपाल गुरु तीनों भुवनों में विद्यमान रहता है।[९३] हर प्रकार के ज्ञान का आदि, अखूट एवं अक्षय स्रोत स्वयं सृष्टिकर्ता परमात्मा ही है। सृष्टि की रचना से पहले, केवल कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु या परमात्मा ही विद्यमान था। इसलिए परमात्मा ही सबसे पहला और सब का आदि गुरु है। परमात्मा ही सभी गुरुओं का परम गुरु है। श्री गुरु नानक देव जी ने उसी अपरंपार परब्रह्म परमेश्वर को अपना गुरु बताया है। कोई व्यक्ति उनका गुरु नहीं था।[९४]

संस्कृत भाषा के शब्द 'प्रसाद' के कई अर्थों में से एक अर्थ है-कृपा, अनुग्रह या मेहर। गुरुवाणी व्याकरण के अनुसार, 'प्रसादि', 'प्रसाद' शब्द के करण कारक का रूप है। अतः इसका अर्थ है 'कृपा द्वारा'। इस प्रकार 'गुरप्रसादि' समस्तपद का अर्थ हुआ, 'गुरु की कृपा द्वारा'। गुरु अथवा परमात्मा की कृपा में विश्वास गुरुमत मार्ग का प्रमुख उसूल है।

मंगलाचरण के अलावा भी गुरुवाणी में 'प्रसाद', 'प्रसादि', 'परसादि' और इसके समानार्थक 'किरपा', 'नदरि', 'नदरी' आदि शब्दों का बहुत प्रयोग किया गया है। 'गुरप्रसादि' के साथ-साथ, 'जिह प्रसादि', 'संत प्रसादि', 'तउ प्रसादि' आदि समस्तपद भी गुरुवाणी में अनेक बार आये हैं। ये शब्द और ऐसे अन्य समस्तपद हमारे जीवन में प्रभु परमात्मा की कृपा के महत्व को रेखांकित करते हैं।

मनुष्य के जीवन में प्रभु परमात्मा की कृपा का कितना महत्व है इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि मनुष्य के अस्तित्व का मूल कारण ही प्रभु की कृपा है।[९५] पाँचवे नानक, श्री गुरु अर्जुन देव जी द्वारा रचित वाणी 'सुखमनी साहिब' की छठी अष्टपदी में 'जिह प्रसादि' (अर्थात् 'जिस परमात्मा की कृपा से') का पैंतीस बार प्रयोग करके इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि मनुष्य का दुर्लभ शरीर, उसका सुन्दर रूप, स्वास्थ्य, खाने के लिए स्वादिष्ट पदार्थ, बोलने, सुनने, देखने, चखने और हाथ-पैर चलाने आदि की सामर्थ्य, शरीर पर लगाये जाने वाले सुगंधित पदार्थ, पहनने के लिए कपड़े, सजाने के लिए आभूषण, रहने के लिए घर, बाग़, खेत, धन, जायदाद, सवारी के लिए विभिन्न प्रकार के वाहन, मनोरजंन के साधन, दान-पुण्य तथा आचार-व्यवहार करने की योग्यता, कार्य-व्यवहार में सफलता, संसार में शोभा, मन में ज्ञान का प्रकाश आदि सब उस परम पिता, वाहिगुरु की कृपा से ही मिलते हैं।[९६]

इसलिए कोई भी सांसारिक या आध्यात्मिक उपलब्धि होने पर गर्व करने की बजाय दातार प्रभु का हार्दिक धन्यवाद करना चाहिए। जिन लोगों को अपनी सांसारिक प्रतिष्ठा, धन, यौवन, आदि पर गर्व होता है वे प्रभु की कृपा प्राप्त किये बिना ही इस संसार से कूच कर जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की हालत उन टीलों की तरह होती है जो भरपूर वर्षा होने पर भी सूखे ही रह जाते हैं जबकि उन के चहुँ ओर पानी लहरें ले रहा होता है।[९७]

किसी भी व्यक्ति द्वारा परमात्मा को अपने प्रयत्नों से प्राप्त नहीं किया जा सकता[९८] और न ही उसे ख़रीदा जा सकता है।[९९] उस पर किसी प्रकार का दावा या अधिकार भी नहीं जताया जा सकता। जगत् का मालिक, परमात्मा किसी की बपौती या पैतृक सम्पत्ति नहीं है। वह तो प्रेम के वशीभूत है।[१००] दातार वाहिगुरु की हरेक देन उसकी ओर से हमारे लिए ख़ैरात है। प्रभु की ख़ैरात मिलती उसी को है जिसे वह स्वयं देना चाहता है।[१०१] प्रभु जब किसी को कुछ देना चाहता है तो किसी के रूप, कुल, गुण-अवगुण आदि की परवाह नहीं करता।[१०२] जब वह देने पर आता है तो सोये हुए व्यक्तियों को भी जगा कर दे देता है।[१०३]

परमात्मा सदा मेहबान, कृपालु, दयालु अथवा अनुग्रह-कर्ता है।[१०४] 'प्रसाद' शब्द परमात्मा के उस स्वाभाविक गुण अथवा शक्ति की ओर इशारा करता है जो उसकी सर्वशक्तिमत्ता और सम्पूर्ण स्वच्छन्दता की बोधक है और जिस की क्रिया में कोई अन्य दैवी नियम या शक्ति बाधा नहीं डाल सकती क्योंकि उन सभी नियमों और शक्तियों का स्रोत भी प्रभु की कृपा ही है।[१०५]

सूर्य का प्रकाश, हवा आदि नेमतों की तरह प्रभु की कृपा भी सबके लिए सदा उपलब्ध रहती है। परन्तु अपनी कमियों एवं सीमित समझ और सीमित क्षमता के कारण हम उसे प्राप्त नहीं कर सकते; उससे लाभ नहीं उठा सकते। गुरु, शिष्य-साधक और परमात्मा के बीच मध्यस्थ का काम करता है।[१०६] वह परमात्मा के दरबार का सन्देशवाहक है।[१०७] क्योंकि गुरु परमात्मा से एक रूप हो चुका होता है इसलिए गुरु की कृपा और प्रभु की कृपा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु गुरु से अथवा किसी अन्य स्रोत से परब्रह्म के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेने मात्र से या इस विषय में केवल ज़बानी बातें कर लेने से ही परमात्मा नहीं मिल जाता। परमात्मा तो गुरु की कृपा से ही साधक के मन में निवास करता है।[१०८] गुरु द्वारा दिये गये उपदेश को अपने दैनिक जीवन में, अपने नित्य के व्यवहार में लाना ज़रूरी है। नाम-साधना यान्त्रिक रूप में अथवा सरसरी तौर पर नहीं करनी चाहिए। पूर्ण एकाग्रता और पूर्ण भक्ति एवं निष्ठा नाम-साधना का अनिवार्य अंग है। धर्म-साधना और व्यावहारिक जीवन का हरेक कार्य परमात्मा की प्रसन्नता के लिए ही किया जाना चाहिए।

गुरुवाणी में 'गुरप्रसादि' समस्त-पद का प्रयोग अत्यन्त अर्थपूर्ण है। इसका भाव यह भी है कि हम जो कुछ भी कर सकते हैं, कर रहे हैं या करने जा रहे हैं, वह हमारे अपने बल, गुण अथवा योग्यता आदि के कारण न होकर गुरु-परमेश्वर द्वारा हमारे ऊपर की गयी कृपा का ही फल है। अत: 'गुरप्रसादि' और इससे मिलते-जुलते समस्तपद हमें परमात्मा पर हमारी नितान्त निर्भरता का बोध कराते हैं। साथ ही, ऐसे शब्द हमें निरहंकारता ('मैं-मेरा' अथवा 'मैं करता हूँ' या 'मैं कर्त्ता हूँ' की भावना) से स्वतंत्र रहने) का उपदेश देते हैं। गुरुमत-सिद्धान्त के अनुसार प्रभु परमात्मा की प्राप्ति भी सद्गुरु की कृपा द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए मंगलाचरण में श्री गुरु नानक देव जी ने अपने इष्ट, परम सद्गुरु, वाहिगुरु अपरंपार परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप का सूत्रात्मक निरूपण करके अन्त में 'गुरुप्रसादि' समस्तपद का प्रयोग इस तथ्य को रेखांकित करने के लिए किया है कि आगे आने वाली 'जपु' नामी रचना उस परम सद्गुरु की कृपा द्वारा ही लिखी जा रही है।

यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि सिख धर्म को गुरु-केन्द्रित धर्म माना जाता है क्योंकि सिख दर्शन (philosophy) के अनुसार गुरु की कृपा के बिना किसी की सद्गति नहीं हो सकती।[१०९] अत: मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन गुरु-प्रदत्त ज्ञान है जिसके अनुसार सिख अथवा शिष्य को अपना आचरण ढालना है।

गुरुमत सिद्धान्त के अनुसार, अकाल-पुरुष परमात्मा, जिसे 'वाहगुरु' या 'वाहिगुरु' के विशेष नाम द्वारा याद किया जाता है[११०], सबका आदि गुरु है।[१११] वह वाहगुरु ही सब प्रकार के ज्ञान, मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य की ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति आदि का कर्त्ता है।[११२]

यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सिख धर्म के देहधारी गुरु, केवल एक, श्री गुरु नानक साहिब, ही हुए हैं। उन्होंने ही नौ अन्य मानव शरीरों के माध्यम से मानवता के अज्ञान-अन्धकार का निवारण करने के लिए लगभग सवा दो सदियों तक गुरुमत-ज्ञान का प्रसार किया।[११३] दस नानक शरीर और उनके नाम भिन्न-भिन्न होने पर भी उनकी ज्योति, तत्वज्ञान अथवा चैतन्य और युक्ति एक ही थी।[११४]

श्री गुरु नानक साहिब के दस मानव रूपों में से किसी ने भी मानव देह को गुरु मानने का प्रचार अथवा समर्थन नहीं किया। उन दस रूपों में प्रदीप्त दिव्य गुरु-ज्योति ही गुरु थी, उनके शरीर गुरु नहीं थे। उन्होंने केवल 'शब्द गुरु' के सिद्धान्त का ही प्रचार किया। श्री गुरु नानक देव जी ने सिद्धों द्वारा किये गये एक प्रश्न[११५] के उत्तर में स्पष्ट तौर पर 'शब्द' को गुरु बताया था।[११६] पाँचवे नानक, श्री गुरु अर्जुन देव जी के रूप में उन्होनें गुरुवाणी का संकलन एक पोथी के रूप में करके उसका प्रकाश, श्री दरबार

साहिब (हरिमन्दिर साहब), अमृतसर, में अपने आसन से ऊँचे स्थान पर करके गुरु-शब्द को अपने शरीर से ऊँचा स्थान दिया। फिर, अपने दसवें शरीर, श्री गुरु गोबिंद सिंघ जी के रूप में गुरुवाणी के संग्रह में नवम नानक, श्री गुरु तेग़ बहादुर जी की वाणी को शामिल करके, श्री ग्रन्थ साहिब को गुरु-गद्दी पर विराजमान कर दिया और उसके आगे अपना माथा टेककर सब सिखों को आदेश दिया कि वे सभी श्री गुरु ग्रन्थ साहिब को ही सदा अपना गुरु माना करें।[११७] अत: सिखों के लिए देहधारी गुरु का वर्तमान रूप शब्द गुरु, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी ही हैं। अब केवल वे ही सदा के लिए सिखों के गुरु हैं, उनके अलावा कोई देहधारी सिखों का गुरु नहीं हो सकता।

गुरु का शब्द ऐसा दीपक है, जो तीनों लोकों, अर्थात् सारी सृष्टि में प्रकाश करता है।[११८] गुरु-शब्द, अर्थात् सद्गुरु के उपदेश के बिना मनुष्य के हृदय में माया और मोह का अंधेरा छाया रहता है। यही कारण है कि मनुष्य अपने अंदर से प्रभु के नाम-पदार्थ को ढूँढ़ नहीं सकता और जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।[११९]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. क़ुरान शरीफ़ के नौवें सूरह, 'सूरतु-'ल-बराअह', को छोड़कर हरेक सूरह (अध्याय) से पहले 'बिस्मिल्लाहिर् रहमानिर् रहीम', अर्थात् 'अल्लाह के नाम से जो अत्यन्त कृपाशील और दयावान है', लिखा मिलता है। मुस्लमान लोग बिस्मिल्लाह के ये शब्द कहकर हर काम आरम्भ करते हैं और सिक्ख मंगलाचरण का उच्चारण करके। 'मंगलाचरण' और 'बिस्मिल्लाह', दोनों ही परमात्मा के नाम से शुरू होते हैं और दोनों में उसे कृपालु माना गया है।

२. संतन की सुणि साची साखी।।
सो बोलहि जो पेखहि आखी।। रामकली, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ८९४

३. साहिबु मेरा ऐको है।। एको है भाई ऐको है।। आसा, महला १, वही, पृष्ठ ३५०
साहिबु मेरा एकु है अवरु नही भाई।। आसा, महला १, वही, पृष्ठ ५२०
एकंकारु अवरु नही दूजा, नानक एकु समाई।। रामकली, महला १, वही, पृष्ठ ९३०

४. इस 'शून्य' का अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं है। यह 'शून्य' अंगरेज़ी भाषा के ज़ीरो शब्द (zero) का समानार्थक नहीं है। यह तो परब्रह्म परमात्मा की, सृष्टिरचना से पहले की, वह अवस्था है जिसमें वह अपने-आप में समाधिस्थ होता है और सब शक्तियाँ, सब सम्भावनाएँ, सब गुण तथा आकार आदि उसमें सिमटे हुए होते हैं।

५. निरंकारु आकारु होइ एकंकारु अपारु सदाइआ।।
एकंकारहु सबद धुनि ओअंकार अकारु बणाइआ।। भाई गुरदास, वार २६, पउड़ी २
निरंकारु एकंकारु होइ ओअंकारि अकार अपारा।। वही, वार २९, पउड़ी १९
निराधार निरंकारु न अलखु लखाइआ।। होआ एकंकारु आपु उपाइआ।।
ओअंकारि आकारु चलितु रचाइआ।। वही, वार २२, पउड़ी १

६. निरंकार आकार आपि निरगुन सरगुन एक।।
एकहि एक बखाननो नानक एक अनेक।।१।।
गउड़ी, बावन अखरी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २५०
तिसु भावै ता करे बिसथारु।। तिसु भावै ता एकंकारु।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २९४

७. है तूहै तू होवनहार।। अगम अगाधि ऊच आपार।। तिलंग, महला ५, वही, पृष्ठ ७२४

८. जह जह देखा तह रहिआ समाई।। बिलवलु, महला ५, वही, पृष्ठ ८२२
जह जह देखा तह तह सोई।। प्रभाती, महला १, वही, पृष्ठ १३४३

९. ससा सति सति सति सोऊ।।
सति पुरख ते भिंन न कोऊ।। गउड़ी, बावन अखरी, महला ५, वही, पृष्ठ २५०
आदि सचु जुगदि सचु।। है भी सचु, नानक, होसी भी सचु।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ १

१०. कहत कबीर चेति रे अंधा।।
सति रामु झूठा सभु धंधा।। गउड़ी, कबीर जी, वही, पृष्ठ ३२६

११. किरतम नाम कथे तेरे जिहबा।।
सति नामु तेरा परा पूरबला।। मारू, महला ५, वही, पृष्ठ १०८३

१२. सहस तव नैन, नन नैन हहि तोहि कउ,
सहस मूरति नना एक तुोही।। धनासरी, महला १, वही, पृष्ठ १३

१३. नाम के धारे सगले जंत।।
नाम के धारे खंड ब्रहमंड।। गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २८४

१४. नामै ही ते सभु किछु होआ, बिनु सतिगुर नामु न जापै।। सूही, महला ३, वही, पृष्ठ ७५३
नामै ते सभि ऊपजे भाई, नाइ विसरिऐ मरि जाइ।। सोरठि, महला ३, वही, पृष्ठ ६०३

१५. जेता कीता तेता नाउ।। विणु नावै नाही को थाउ।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ४

१६. नाम ततु सभ ही सिरि जापै।।
बिनु नावै दुखु कालु संतापै।। रामकली, महला १, वही, पृष्ठ ९४३

१७. सरब धरम महि स्रेसट धरमु।।
हरि को नामु जपि निरमल करमु।। गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २६६

१८. जाप ताप गिआन सभि धिआन।। खट सासत्र सिम्रिति वखिआन।।
जोग अभिआस करम ध्रम किरिआ।। सगल तिआगि बन मधे फिरिआ।।
अनिक प्रकार कीए बहु जतना।। पुंन दान होमे बहु रतना।।
सरीरु कटाइ होमै करि राती।। वरत नेम करै बहु भाती।।
नही तुलि राम नाम बीचार।।
नानक गुरमुखि नामु जपीऐ इक बार।।१।। गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २६५
नाम बिना फोकट सभि करमा,
जिउ बाजीगरु भरमि भुलै।। प्रभाती, महला १, वही, पृष्ठ १३४३

१९. हरि का नामु जन कउ मुकति जुगति।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २६४

२०. जपि मन मेरे तू एको नामु।।
सतिगुरि दीआ मो कउ एहु निधानु। वडहंसु, महला ३, वही, पृष्ठ ५५८
राम नाम निति जपि मन मेरे।। आसा, महला ५, वही, पृष्ठ ३७८
जपि मन रामै नामु, हरि जसु ऊतम काम।। धनासरी, महला ४, वही, पृष्ठ ६६९

२१. बिनु जिहवा जो जपै हिआइ।। कोई जाणै कैसा नाउ।। मलार, महला १, वही, पृष्ठ १२५६

२२. मुखहु हरि हरि सभु को करै विरलै हिरदै वसाइआ।।
नानक जिन कै हिरदै वसिआ मोख मुकति तिन्ह पाइआ।। वडहंसु, महला ३, वही, पृष्ठ ५६५

२३. हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरंजनु नालि।। सलोक, कबीर जी, वही, पृष्ठ १३७६
मनु राम नामा बेधीअले।।
जैसे कनिक कला चितु मांडीअले।। रामकली, नामदेउ जी, वही, पृष्ठ ९७२

२४. तू करता पुरखु अगंमु है रविआ सभ ठाई।। वार मलार, महला १, वही, पृष्ठ १२९१
पूरि रहिआ सरबत्र मै सो पुरखु बिधाता। –केदारा, महला ५, वही, पृष्ठ ११२२,
ओहु अबिनासी पुरखु है, सभ महि रहिआ समाइ।। सूही, महला ४, वही, पृष्ठ ७५९

२५. हरि जीउ, तूं करता करतारु।। सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ ५४
तूं करता पुरखु अगंमु है आपि स्रिसटि उपाती।।
रंग परंग उपारजना बहु बहु बिधि भाती।।
तूं जाणहि जिनि उपाईऐ सभु खेलु तुमाती। वार माझ, महला १, वही, पृष्ठ १३८

२६. हरि इको करता इकु, इको दीबाणु हरि।।
हरि इकसै दा है अमरु, इको हरि चिति धरि।। सिरीराग की वार, महला ४, वही, पृष्ठ ८३
एको करता जिनि जगु कीआ।।
बाझु कला धरि गगनु धरीआ।। बसंतु, महला १, वही, पृष्ठ ११८८

२७. कुदरति करि कै वसिआ सोइ।। सलोकु महला १, वही, पृष्ठ ८३
ओअंकारि सभ स्रिसटि उपाई।।
सभु खेलु तमासा तेरी वडिआई।। मारू, महला ३, वही, पृष्ठ १०६१

२८. करण कारण समरथु है, कहु नानक बीचारि।।
कारणु करते वसि है, जिनि कल रखी धारि।। सलोकु, महला २, वही, पृष्ठ १४८
करण कारण समरथ सुआमी पूरन पुरखु बिधाता।। रहाउ।। सोरठि, महला ५, वही, पृष्ठ ६१९

२९. सभ आपे तुधु उपाइ कै आपि कारै लाई।।
तूं आपे वेखि विगसदा आपणी वडिआई।। सिरीराग की वार, महला ४, वही, पृष्ठ ८३
हरि आपि उपाए, हरि आपे वेखै,
हरि आपे कारै लाइआ जीउ।। गउड़ी, महला ४, वही, पृष्ठ १७३

३०. सिसटि उपाई सभ तुधु,
आपे रिजकु संबाहिआ। सिरीराग की वार, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ८५

३१. आपे कारणु करता करे, स्रिसटि देखै आपि उपाइ।। सिरीरागु, महला ३; वही, पृष्ठ ३७
जिव तिसु भावै, तिवै चलावै, जिव होवै फुरमाणु।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ७

३२. ओपति परलउ खिन महि करता।।
आपि अलेपा निरगुनु रहता।। आसा, महला ५, वही, पृष्ठ ३८७

३३. आपे सूतु आपे बहु मणीआ, करि सकती जगतु परोइ।।
आपे ही सूतधारु है पिआरा, सूतु खिंचे ढहि ढेरी होइ।।२।। सोरठि, महला ४, वही, पृष्ठ ६०४

एहु परपंचु खेलु कीआ सभु करतै, हरि करतै सभि कल धारी।।
हरि एको सूतु वरतै जुग अंतरि, सूतु खिंचै एकंकारी।। गूजरी, महला ४, वही, पृष्ठ ५०७

३४. अंतु न जापै किआ मनि मंतु।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ५

३५. तिसहि सरीकु न दीसै कोई, आपे अपर अपारा हे।। मारू, महला १, वही, पृष्ठ १०२६
तुधु जेवडु होरु सरीकु होवै ता आखीऐ,
तुधु जेवडु तूहै होई।। बिहागड़े की वार, महला ४, वही, पृष्ठ ५४९

३६. तिस ते ऊपरि नाही कोइ।।
कउणु डरै डरु किस का होइ।। बिलावलु, महला ३, वही, पृष्ठ ८४२

निरभउ सो, सिरि नाही लेखा।।
आपि अलेखु कुदरति है देखा।। मारु, महला १, वही, पृष्ठ १०४२

३७. एके कउ नाही भउ कोइ।। करता करे करावै सोइ।। बिलावलु, महला १, वही, पृष्ठ ७९६

३८. एकसु ते सभु दूजा हूआ।। एको वरतै अवरु न बीआ।। बिलावलु, महला ३, वही, पृष्ठ ८४२

३९. निरभउ निरंकारु निरवैरु पूरन जोति समाई।। सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ५९६
निरभउ निरंकारु सचु नामु।।
जा का कीआ सगल जहानु।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४६५
हरि सति निरंजन अमरु है, निरभउ निरवैरु निरंकारु।। वार गउड़ी, महला ४, वही, पृष्ठ ३०२

४०. हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ १
भै महि रचिओ सभु संसारा।। गउड़ी , महला ५, वही, पृष्ठ १९२

४१. सगलिआ भउ लिखिआ सिरि लेखु।।
नानक निरभउ निरंकारु सचु एकु।।१।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४६४

४२. सगल समग्री डरहि बिआपी, बिनु डर करणैहारा।। मारू, महला ५, वही, पृष्ठ ९९९
भै विचि सभु आकारु है, निरभउ हरि जीउ सोइ।। सलोकु, महला ३, वही, पृष्ठ ५८६

४३. निरंकारु निरवैरु अवरु नही दूसर कोई।।
भंजन गढ़ण समथु तरण तारण प्रभु सोई।। सवैये महले चउथे के, मथुरा, वही, पृष्ठ १४०४

४४. काइआ नगरि बसत हरि सुआमी, हरि निरभउ निरवैरु निरंकारा।।
बैराड़ी, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ७२०
निरभउ निरंकारु निरवैरु, पूरन जोति समाई।। सोरठि, महला १, वही पृष्ठ ५९६

४५. हरि जी माता, हरि जी पिता, हरि जीउ प्रतिपालक।।
हरि जी मेरी सार करे, हम हरि के बालक।। वार मारू, महला ५, वही, पृष्ठ ११०१

४६. धरणि सुवंनी खड़ रतन जड़ावी हरि प्रेम पुरखु मुनि वुठा। —
सभे काज सुहेलड़े थीए गुरु नानकु सतिगुरु तुठा।।१।। वार गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ ३२२

४७. तिस का सरीकु को नही ना को कंटकु वैराई।।
निहचलु राजु है सदा तिसु केरा ना आवै ना जाई।। सलोकु, महला ३, वही, पृष्ठ ५९२

४८. ना तिसु रूपु न रेखिआ काई।। सूही, महला १, वही, पृष्ठ ७५०
ना तिसु रूप वरनु नही रेखिआ, साचै सबदि नीसाणु।। सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ५९७

४९. थापिआ न जाइ कीता न होइ।।
आपे आपि निरंजनु सोइ।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ २

५०. पाखान गढि कै मूरति कीन्ही दे कै छाती पाउ।।
जे एह मूरति साची है तउ गढ़णहारे खाउ।। आसा, कबीर जी, वही, पृष्ठ ४७९

५१. अमोघ दरसन आजूनी संभउ।।
अकाल मूरति जिसु कदे नाही खउ।। मारू, महला ५, वही, पृष्ठ १०८२

५२. भरमि भूले नर करत कचराइण।।
जनम मरण ते रहत नाराइण।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११३६

५३. तू अकाल पुरखु नाही सिरि काला।।
तू पुरखु अलेख अगंम निराला।। मारू महला १, वही, पृष्ठ १०३८

५४. अलाहु अलखु अगंमु कादरु करणहारु करीमु।।
सभ दुनी आवण जावणी मुकामु एकु रहीमु।।६।। सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ ६४
देही अंदरि नामु निवासी।। आपे करता है अबिनासी।। मारू, महला १, वही, पृष्ठ १०२६

५५. लख चउरासीह जिन्हि उपाई,
सो सिमरहु निरबाणी।। गूजरी, त्रिलोचन जी, वही, पृष्ठ ५२६

५६. तू पारब्रहमु परमेसरु जोनि न आवही।।
तू हुकमी साजहि स्रिसटि साजि समावही।। मारू वार, महला ५, वही, पृष्ठ १०९५

५७. एकम एकंकारु निराला।। अमरु अजोनी जाति न जाला।।बिलावलु, महला १, वही, पृष्ठ ८३८
अलखु न लखीऐ अगमु अजोनी, तूं नाथां नाथणहारा।। मलार, महला १, वही, पृष्ठ १२५५

५८. गुरुवाणी में 'अवतार' शब्द का साधारण अर्थ 'जन्म' है—
त्रिगद जोनि अचेत संभव पुंन पाप असोच।।
मानुखा अवतार दुलभ तिही संगति पोच।। आसा, रविदास जीउ, वही, पृष्ठ ४८६

हउ विचि पाप पुंन वीचारु।।
हउ विचि नरकि सुरगि अवतारु।। वार आसा, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४६६

इसके अतिरिक्त 'अवतार' शब्द का एक विशेष अर्थ है, 'किसी देवता या ईश्वर का मनुष्य आदि के रूप में पृथ्वी पर जन्म लेना।' ऐसे विश्वास या मत को अवतारवाद कहा जाता है। निर्गुण सन्त साहित्य के सन्दर्भ में अवतारवाद की स्थिति के बारे में डॉ. विनयमोहन शर्मा के विचार इस प्रकार हैं:—

"अवतरणमवतार: (उच्च स्थान से निम्न स्थान पर उतरना ही अवतरण या अवतार है)। भगवान्‌का बैकुण्ठधामसे भू-लोकपर लीलादिके निमित्त अवतार होता है।

....

निर्गुण सन्त कवियोंने अवतारोंका निषेध किया, उन्हें उसी रूपमें नहीं ग्रहण किया, जिस रूपमें सगुण उपासक कवियोंने ग्रहण किया। सगुणोपासकोंके लिए ईश्वरावतार स्थूल प्रतीक है, जिसकी उन्होंने मानसिक और सेवामूलक उपासना तथा अर्चना की है। निर्गुणियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिको, जिसे 'गूँगे का गुड़' कहते हैं, लोकसामान्य बनाने की दृष्टिसे राम, कृष्ण आदि अवतारोंके प्रतीकोंके माध्यमसे व्यक्त किया है। अवतार उनके अव्यक्त ब्रह्मके नाममात्र हैं। उन्होंने अवतार नामोंकी पुराणवर्णित लीलाओंपर आस्था नहीं प्रकट की। ... यद्यपि निर्गुणी सन्तों ने अवतारों का विरोध किया है.... तो भी जब ब्रह्म के प्रति प्रेमासक्तिवश उसका बड़प्पन सिद्ध करने की इच्छा जागरित होती है तब वे उसके अवतारी 'गुणों' या कार्यों का भी स्मरण कर लेते हैं ....

भगवानके अवतारोंके गुण-माहात्म्यका उल्लेख करनेमें निर्गुणियोंको आपत्ति नहीं दिखाई देती, पर वे अवतारोंके प्रतिमा-पूजनका घोर विरोध करते हैं।"

धीरेन्द्र वर्मा, प्रधान संपादक, *हिन्दी साहित्य कोश*, भाग १,
तृतीय संस्करण, (वाराणसी, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, १९८५) पृष्ठ ५८-५९

निर्गुण सन्त साहित्य की तरह ही गुरुवाणी में भी अवतारवाद का निषेध है। 'अवतार' आम मनुष्यों आदि की तरह ही जन्म लेता है। उसके भी माता-पिता और अन्य सगे संबंधी होते हैं। परन्तु परमात्मा कभी जन्म नहीं लेता-

सो मुखु जलउ जितु कहहि ठाकुरु जोनी।।

भैरउ, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ११३६

परमात्मा का कोई माता-पिता आदि भी नहीं है-

तुम्ह जु कहत हउ नंद को नंदनु, नंद सु नंदनु का को रे।।
धरनि अकासु दसो दिस नाही तबु इहु नंदु कहा थो रे।।१।। रहाउ।।
संकटि नही परै जोनि नही आवै नामु निरंजन जा को रे।।
कबीर को सुआमी ऐसो ठाकुरु, जा कै माई न बापो रे।।

गउड़ी, कबीर जी, वही, पृष्ठ ३३८-३९

जिन्हें दस अवतार माना जाता है, वे स्वयं परमात्मा नहीं थे। वे भी असंख्य देव-दानवों

आदि की तरह परमात्मा के हुक्म द्वारा पैदा किये गये जीव थे–

हुकमि उपाए दस अउतारा।।
देव दानव अगणत अपारा।। मारू, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १०३७

अवतार भी बेअन्त परब्रह्म परमेश्वर का भेद नहीं जानते–

अवतार न जानहि अंतु।।
परमेसरु पारब्रहम बेअंतु।।

रामकली, महला ५, वही, पृष्ठ ८९४

बहुत से महानुभावों को जो अपने अपने समय में प्रसिद्ध राजा हुए हैं, लोग परमात्मा का अवतार जान कर उनकी पूजा करते चले आ रहे हैं–

जुगह जुगह के राजे कीए, गावहि करि अवतारी।
तिन भी अंतु न पाइआ ता का किआ करि आखि वीचारी।।

आसा, महला ३, वही, पृष्ठ ४२३

इस विषय में भाई कान्ह सिंघ नाभा का कहना है, "संसार के सुधार और उपकार के लिए समय-समय पर जिन महानुभावों ने यत्न किया है और शुभ उपदेशों द्वारा लाभ पहुँचाया है, वे सब प्रकार से सत्कार के योग्य हैं। ऐसे उपकारियों को साधरण लोगों जैसा समझना और अपमान करना भारी भूल है, परन्तु उन को परमात्मा तुल्य मानना गुनाह है।"

गुरुमत मारतंड, भाग पहला, छठा संस्करण
(अमृतसर, श्रोमणी गुरदुआरा प्रबंधक कमेटी, १९९९) पृष्ठ ४८

अवतारवाद के प्रति गुरुमत का दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए भाई कान्ह सिंघ नाभा ने ज्ञानी ज्ञान सिंघ कृत 'पंथ प्रकाश' के चौथे संस्करण के चौहत्तरवें अध्याय से निम्नलिखित छह पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं–

हिंदू कहित जिन्हे अवतार। परमेश्वर तन धारे सार।
परमेश्वर थपि पूजत मानत। भजन ध्यान उन ही का ठानत।
सिक्ख उन्हें परमेशर न मानै। परमेश्वर के सेवक जानै। वही, पृष्ठ ५०

५९. जोति सरूप जा की सभ वथु।।
करण कारण पूरन समरथु।।१।। भैरउ, महल ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ११५०

६०. ना तिसु मात पिता सुत बंधप, ना तिसु कामु न नारी।।
अकुल निरंजन अपर परंपरु सगली जोति तुमारी।। सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ५९७

६१. जो उपजिओ सो बिनसि है, परो आजु कै कालि। सलोकु, महला ९, वही, पृष्ठ १४२९
जो उपजै सो कालि संघारिआ।। गउड़ी, महला १, वही, पृष्ठ २२७

६२. जनमि न मरै, न आवै न जाइ।।
नानक का प्रभु रहिओ समाइ।। भौरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११३६

६३. जनम मरण भवभंजनु गाईऐ, पुनरपि जनमु न होई जीउ।। सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ५९९

६४. गुरुवाणी में 'सैभं' शब्द के 'संभउ', 'संभौ', 'संभू', 'संभविअउ' आदि रूप भी प्रयुक्त हुए हैं—
जाति अजाति अजोनी संभउ न तिसु भाउ न भरमा।।
सोरठि, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ५९७
अकाल मूरति अजूनी संभौ मन सिमरत ठंढा थीवां जीउ।। माझ, महला ५, वही, पृष्ठ ९९
सरब जोति निरंजन संभू छोडहु बहुतु जंजाला।। गूजरी, महला १, वही, पृष्ठ ५०३
आजोनी संभविअउ, सुजसु कल्य कवीअणि बखाणिअउ।।
सवैये महले पंजवे के, कल्य सहार, वही, पृष्ठ १४०७

६५. चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, तथा तारिणीश झा, *संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ,* द्वितीय संस्करण (इलाहाबाद, रामनारायण लाल, १९५७) पृष्ठ ८३४

६६. अबिनासी अबिगत आपे आपि उतपति।। एकै तूही एकै अन नाही तुम भति।।
सवैये स्री मुख बाक्य, महला ५, वही, पृष्ठ १३८५
आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ।।
दुयी कुदरति साजीऐ करि आसणु डिठो चाउ।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४६३

६७. सभ महि जोति जोति है सोइ।। तिस कै चानणि सभ महि चानणु होइ।।
धनासरी, महला १, वही, पृष्ठ ६६३

६८. गु शब्दस्तु अन्धकार: स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधक:
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते।। *द्वयोपनिषद्* ५ तथा *अद्वयतारक उपनिषद्* १० देखिये,
उपनिषद्वाक्य महाकोश, बम्बई, १९४०

कवि चूड़ामणि, भाई सन्तोख सिंघ जी ने भी 'वाहिगुरु' नाम की विशेषता बताते हुए 'गुरु' शब्द की ऐसी ही व्युत्पत्ति दी है

'वाहि' नामु अचरज को होई। अचरज ते परि उकति न कोई।।
'गो' तम नाम अग्यान अनित्त। 'रो' परकाश कियो जिन चित्तु।।
श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ, जिल्द दूसरी
(पटियाला, भाषा विभाग, पंजाब, १९८९) पृष्ठ ९२

६९. जे सउ चंदा उगवहि सूरज चड़हि हजार।।
एते चानण होदिआं गुर बिनु घोर अंधार।। सलोक, महला २, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४६३

७०. नानक गुरू न चेतनी मनि आपणै सुचेत।।
छुटे तिल बूआड़, जिउ सुंञे अंदरि खेत।।
खेतै अंदरि छुटिआ कहु नानक सउ नाह।।
फलीअहि फुलीअहि बपुड़े, भी तन विचि सुआह।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४६३

७१. सतिगुर बाझहु गुरु नही कोई निगुरे का है नाउ बुरा।। रागु आसा, महला ३, वही, पृष्ठ ४३५

७२. जिउ निगुरा बहु बाता जाणै, ओहु हरि दरगह है भ्रसटी।।
देवगंधारी, महला ४, वही, पृष्ठ ५२८

७३. निगुरे कउ गति काई नाही।।
अवगणि मुठे चोटा खाही।। रागु आसा, महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ३६१

७४. ठाकुरु छोडि दासी कउ सिमरहि मनमुख अंध अगिआना।।
हरि की भगति करहि तिन निंदहि निगुरे पसू समाना।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११३८

७५. भाई रे गुर बिनु गिआनु न होइ।।
पूछहु ब्रहमे नारदै बेद बिआसै कोइ।। सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ ५९
मत को भरमि भुलै संसारि।। गुर बिनु कोइ न उतरसि पारि।। गोंड, महला ५, वही, पृष्ठ ८६४

७६. जिउ अंधेरै दीपकु बालीऐ तिउ गुर गिआनि अगिआनु तजाइ।।
सिरीरागु, महला ३, वही, पृष्ठ ३९

७७. केते गुर चेले फुनि हूआ।। काचे गुर ते मुकति न हूआ।। रामकली, महला १, वही, पृष्ठ ९३२

७८. सति पुरखु जिनि जानिआ सतिगुरु तिस का नाउ।।
तिस कै संगि सिखु उधरै नानक हरि गुन गाउ।। गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २८६
ब्रहमु बिंदे सो सतिगुरु कहीऐ हरि हरि कथा सुणावै।। मलार, महला ४, वही, पृष्ठ १२६४

७९. वाहु वाहु सतिगुरु पुरखु है जिनि सचु जाता सोइ।।
जितु मिलिऐ तिख उतरै, तनु मनु सीतलु होइ।।
वाहु वाहु सतिगुरु सतिपुरखु है जिसनो समतु सभ कोइ।। सलोकु महला ४, वही, पृष्ठ १४२१

८०. सतिगुरु अंदरहु निरवैरु है सभु देखै ब्रहमु इकु सोइ।। वार गउड़ी, महला ४, वही, पृष्ठ ३०२

८१. गुर महि आपु समोइ सबदु वरताइआ।। वार मलार, महला १,वही, पृष्ठ १२७९
जैसी मै आवै खसम की बाणी तैसड़ा करी गिआनु वे लालो।।
तिलंग, महला १, वही, पृष्ठ ७२२
हउ आपहु बोलि न जाणदा, मै कहिआ सभु हुकमाउ जीउ।। सूही, महला १, वही, पृष्ठ ७६३

८२. सतिगुरु देउ परतखि हरि मूरति जो अंम्रित बचन सुणावै। मलार, महला ४, वही, पृष्ठ १२६४
पारब्रहमु परमेसरु अनूपु।। सफल मूरति गुरु तिस का रूपु।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११५२

८३. सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि, छूटहि सबदु कमाई।। सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ५९७
पूछत पथिक, तिह मारगि न धारै पगु, प्रीतम के देस कैसे बातन कै जाईए।।।
पूछत है बैद, खात अउखधि न संजम सै, कैसे मिटै रोगु सुख सहजि समाईए।।।
पूछत सुहागनि, करम है दुहागनि कै, रिदै बिभचार कत सिहजा बुलाईए।।
गाए सुनै आंखे मीचै पाईऐ न परम पदु, गुर उपदेसु गहि जउ लउ न कमाईए।।।४३९।।
भाई सेवा सिंघ, *कबित्त सवैये भाई गुरदास जी सटीक,*
पहली बार (अंमृतसर, सिंघ ब्रदर्ज, १९९६) पृष्ठ २७२

८४. सतिगुर नो सभु को वेखदा जेता जगतु संसारु।।
डिठै मुकति न होवई जिचरु सबदि न करे वीचारु।।
हउमै मैलु न चुकई,नामि न लगै पिआरु। सलोक, महला ३, वही, पृष्ठ ५९४

८५. कबीरा धूरि सकेलि कै, पुरीआ बांधी देह।।
दिवस चारि को पेखना, अंति खेह की खेह।। सलोक कबीर, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३७४
काची गागरि देह दुहेली, उपजै बिनसै दुखु पाई।। आसा, महला १, वही, पृष्ठ ३५५

८६. गज साढे तै तै धोतीआ तिहरे पाइनि तग।।
गली जिन्हा जपमालीआ लोटे हथि निबग।।
ओइ हरि के संत न आखीअहि बानारसि के ठग।। आसा, कबीर जी, वही, पृष्ठ ४७६

८७. गुर की सेवा सबदु वीचारु।। हउमै मारे करणी सारु।। गउड़ी, महला १, वही, पृष्ठ २२३

८८. नामु हमारै पूजा देव।। नामु हमारै गुर की सेव।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११४५

८९. सतिगुर सबदि उजारो दीपा।।
बिनसिओ अंधकार तिह मंदरि रतन कोठड़ी खुल्ही अनूपा।।
बिलावलु, महला ५, वही, पृष्ठ ८२१

९०. बाणी गुरू गुरू है बाणी, विचि बाणी अंम्रितु सारे।।
गुरु बाणी कहै, सेवकु जनु मानै, परतखि गुरू निसतारे।। नट, महला ४, वही, पृष्ठ ९८२
सतिगुर बचन बचन है सतिगुर पाधरु मुकति जनावैगो।। कानड़ा, महला ४, वही, पृष्ठ १३०९
इस विषय में योगी विलियम ज़ोर्न के विचार ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं,

"In many of the ancient scriptures, the student is advised to find a personal teacher, a *guru*. This is now no longer necessary. Because there were very few books, and few people were able to read, the sacred teachings were handed down orally for many centuries; and were put down in writing only after perhaps a thousand years. Today, when so many books containing the classics are easily available, the need for a personal teacher is elminated. The writen [sic] word is the best of all *gurus*. Through books the great measters speak to us directly." Yogi Willam Zorn, *Yoga For The mind*, London Pelham Book, 1970, Page 19.

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-

बहुत सारे पुरातन धर्म-ग्रन्थों में शिक्षार्थी को अपना निजी गुरु खोज लेने की नसीहत दी जाती है। अब इसकी ज़रूरत नहीं है। तब इनी-गिनी पुस्तकें होती थीं और कुछ लोग ही पढ़ सकते थे; पारमार्थिक उपदेश सदियों तक मौखिक रूप से ही दिये जाते थे; और सम्भवत: हज़ार वर्षों बाद उन्हें लिखित रूप दिया जाता था। आजकल, जब उत्कृष्ट ग्रन्थों सहित इतनी अधिक पुस्तकें आसानी से उपलब्ध हैं, निजी गुरु की आवश्यकता समाप्त हो गयी है। लिखित शब्द सबसे श्रेष्ठ गुरु है। पुस्तकों के माध्यम से महान् गुरु हमारे साथ सीधे बात करते हैं।

९१. सतिगुरु मेरा सदा सदा, ना आवै न जाइ।।
ओहु अबिनासी पुरखु है, सभ महि रहिआ समाइ।।
सूही, महला ४, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ७५९

९२. नानक जुगि जुगि गुर गोपाला।। रामकली महला १, सिध गोसटि, वही, पृष्ठ ९४३

९३. ऊरम धूरम जोति उजाला।।
तीनि भवण महि गुर गोपाला।। रामकली, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ९३०

९४. गुरु आदि पुरखु हरि पाइआ।। रामकली, महला १, वही, पृष्ठ ८७९
ततु निरंजनु जोति सबाई, सोहं भेदु न कोई जीउ।।
अपरंपर पारब्रहमु परमेसरु,
नानक गुरु मिलिआ सोई जीउ।। -सोरठि, महला १, वही, पृष्ठ ५९९

९५. तुमरी क्रिपा ते मानुख देह पाई है, देहु दरसु हरि राइआ।। -गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ २०७

९६. जिह प्रसादि छतीह अंम्रित खाहि।। तिसु ठाकुर कउ रखु मन माहि।।
जिह प्रसादि सुगंधत तनि लावहि।। तिस कउ सिमरत परम गति पावहि।
जिह प्रसादि बसहि सुख मंदरि।। तिसहि धिआइ सदा मन अंदरि।.... वही, पृष्ठ २६९-२७०

९७. फरीदा गरबु जिन्हा वडिआईआ धनि जोबनि आगाह।।
खाली चले धणी सिउ टिबे जिउ मीहाहु।। १०५।। सलोक , महला ५, वही, पृष्ठ १३८३

९८. घाल न मिलिओ, सेव न मिलिओ, मिलिओ आइ अचिंता।।
धनासरी, महला ५, वही, पृष्ठ ६७२
आपण लीआ किछू न पाईऐ करि किरपा कल धारी जीउ।।मारू, महला ३, वही, पृष्ठ १०१६

९९. सरब कला करि खेलै खेल।। मोलि न पाईऐ गुणह अमोल।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २९४

१००. आपन बापै नाही किसी को, भावन को हरि राजा।।
रागु सोरठि, भगत रविदास जी, वही, पृष्ठ ६५८

१०१. वडे हथि वडिआईआ जै भावै तै देइ।।
हुकमि सवारे आपणै चसा न ढिल करेइ।। सिरीरागु, महला १, वही, पृष्ठ ५३

१०२. ना मै रूपु न बंके नैणा।। ना कुल ढंगु न मीठे बैणा।।....
भणति नानकु सहु है भी होसी।। जै भावै पिआरा तै रावेसी।।
राग सूही, महला १, वही, पृष्ठ ७५०

१०३. दाती साहिब संदीआ किआ चलै तिसु नालि।।
इक जागंदे ना लहंन्हि इकन्हा सुतिआ देइ उठालि।।११३।।
सलोक, सेख फरीदके, वही, पृष्ठ १३८४

१०४. मिहरवानु साहिबु मिहरवानु। साहिबु मेरा मिहरवानु।।
जीअ सगल कउ देइ दानु।। तिलंग महला ५, वही, पृष्ठ ७२४

१०५. धौलु धरमु दइआ का पूतु।। संतोखु थापि रखिआ जिनि सूति।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ३

१०६. जैसा सतिगुरु सुणीदा तैसो ही मै डीठु।।
विछुड़िआ मेले प्रभू हरि दरगह का बसीठु।। रामकली, महला ५, वही, पृष्ठ ९५७

१०७. परमेसर कै दुआरै जि होइ बितीतै, सु नानकु आखि सुणावै।।आसा, महला ५, वही, पृष्ठ ३७३

१०८. कहणै कथनि न पाइआ जाइ।।
गुरपरसादि वसै मनि आइ।। आसा, महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ३६२
कहणै कथनि न भीजै गोबिंदु, हरि भावै पैज रखाईऐ।। सोरठि, महला ५, वही, पृष्ठ ६२४

१०९. बिनु सतिगुर मुकति किनै न पाई।।
आवहि जांहि मरहि मरि जाई।। प्रभाती, महला १, वही, पृष्ठ १३४३
बिनु सतिगुर मुकति न पाईऐ, मनमुखि फिरै दिवानु।। सिरीरागु, महला ३, वही, पृष्ठ ३९

११०. कवि चूडामणि, भाई संतोख सिंघ ने, श्री गुरु नानक देव जी द्वारा बनाये, परमात्मा के विलक्षण नाम 'वाहिगुरू' को परमात्मा के सभी निर्गुण और सगुण नामों में मेरु अर्थात् सर्वश्रेष्ठ माना है—

निरगुन सरगुन नाम जो वाहिगुरू तिन मेरु।।
सभी ते ऊचा जानीए लेति न कीजै देरि ।।६१।।

उन्होंने उसके अर्थ का वर्णन इस प्रकार किया है–

निरगुन नामन ते वधि ऐसे।। सो करि अरथ बखानों जैसे:-
'वाहि' नामु अचरज को होई। अचरज ते परि उकति न कोई।।६२।।
'गो' तम नाम अग्यान अनित्त। 'रो' परकाश कियो जिन चित्तु।।
इउं स्री नानक नाम बनायो।। सुनि श्रुति संतन चित सुख पायो।।६३ ।।

श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ, जिल्द दूसरी
(पटियाला, भाषा विभाग, पंजाब, १९८९) पृष्ठ ९२

'वाह' का अर्थ है अचरज, विस्मयकारी, जो मन, बुद्धि और वाणी की पहुँच से परे है, जैसे—

अचरजु किछु कहणु न जाई।। रामकली, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ८८३

अव्यय के रूप में 'वाह' का अर्थ है 'आफ़रीं', 'धन्य' अर्थात् जो केवल अनुभव द्वारा जाना जा सकता है परन्तु बयान नहीं किया जा सकता। 'गो' या 'गु' का अर्थ अंधकार है जो अनित्य, अस्थायी अथवा नश्वर है और जो अज्ञान के रूप में चित्त पर छाया हुआ है। 'रु' नाम उस प्रकाश स्वरूप का है जो जड़ देह को चेतनता से और चित्त, मन अथवा अन्तःकरण को ज्ञान से रोशन या प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार 'वाहिगुरू' का अर्थ हुआ, 'मन एवं बुद्धि से परे, निर्गुण, विस्मयकारी एवं श्लाघा योग्य गुरू, परब्रह्म परमेश्वर।'

१११. निधनिआ धनु, निगुरिआ गुरु, निंमाणिआ तू माणु। मारू , महला १, वही, पृष्ठ ९९२

११२. मति सुमति तेरै वसि सुआमी हम जंत तू पुरखु जंतैनी। बिलावलु, महला ४, वही, पृष्ठ ८००

११३. श्री गुरु नानक साहिब के दस शरीर रूपी दस गुरु साहिबान के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— श्री गुरु नानक देव जी, श्री गुरु अंगद देव जी, श्री गुरु अमरदास जी, श्री गुरु रामदास जी, श्री गुरु अर्जुन देव जी, श्री गुरु हरिगोबिंद जी, श्री गुरु हरिराय जी, श्री गुरु हरिकृशन जी, श्री गुरु तेग बहादुर जी, श्री गुरु गोबिंद सिंघ जी।

११४. जोति ओहा जुगति साइ, सहि काइआ फेरि पलटीऐ।।
रामकली की वार, बलवंड तथा सत्ता, वही, पृष्ठ ९६६

११५. कवण मूलु कवण मति वेला।। तेरा कवणु गुरू जिस का तू चेला।।
रामकली, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ९४२

११६. पवन अरंभु सतिगुर मति वेला।।
सबदु गुरु सुरति धुनि चेला।। रामकली महला १, सिध गोसटि, वही, पृष्ठ ९४३

११७. आगिआ भई अकाल की, तबै चलायो पंथ।
सभ सिक्खन को हुकमु है, गुरू मानीओ ग्रंथ।
गुरू ग्रंथ को मानीओ, प्रगट गुरां की देह।
जो प्रभु को मिलबो चहै, खोज सबद मैं लेह। गिआनी गिआन सिंघ, *पंथ प्रकाश*
(पटियाला, भाषा विभाग, पंजाब, १९७०), पृष्ठ ३५३

इस विषय में सी.एच. पेन की टिप्पणी देखिये–

"Guru Govind Singh left no successor. Before his death, he called his disciples about him and told them that the mission of the Gurus was completed, and that thenceforth their spirits would dwell in the ***Granth Sahib*** and the Khalsa. "I have entrusted you", he said, "to the immortal God. Ever remain under His protection, and trust to none besides. Whenver there are five Sikhs assembled, know that I am in the midst of them. Henceforth the Guru shall be in the Khalsa and the Khalsa in the Guru. I have infused my mental and bodily spirit into the Granth Sahib and the Khalsa". *A Short History of the Sikhs* (London; Thomas Nelson and Sons, undated) page 43.

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है–

'गुरु गोविन्द सिंघ जी ने अपना कोई गद्दी-नशीं नहीं छोड़ा। शरीर त्यागने से पहले उन्होने अपने सिक्खों को अपने पास बुलाया और उन्हें बताया कि गुरुओं का मिशन पूरा हो चुका था और उस समय से लेकर सदा के लिए गुरुओं की ज्योति ग्रंथ साहिब और ख़ालसा में निवास करेगी। उन्होंने कहा, ''मैंने तुम्हें अकाल पुरुष के हवाले कर दिया है। सदा उसी की शरण में रहो और उसके अलावा किसी अन्य में आस्था मत रखना। जब कभी पाँच सिक्ख इकट्ठे हों तो समझ लेना कि मैं उनके बीच हूँ। इस समय से लेकर गुरु ख़ालसा में और ख़ालसा गुरु में निवास करेगा। मैंने अपना मानसिक और शारीरिक सत्त्व ग्रंथ साहब और ख़ालसा में उँडेल दिया है।''

११८. सबदु दीपकु वरतै तिहु लोइ।।
जो चाखै सो निरमलु होइ।। धनासरी महला ३, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ६६४

११९. बिनु सबदै अंतरि आनेरा।। न वसतु लहै न चूकै फेरा।। माझ, महला ३, वही, पृष्ठ १२४

परिशिष्ट-२

अमृत वेला

गुरुमत के अनुसार 'अमृत वेला' का विशेष महत्त्व है। इसलिए इस के बारे में थोड़ी विस्तृत विचार कर लेनी चाहिए।

'अमृत वेला' का अर्थ है, 'अमृत से भरपूर समय', 'मोक्ष प्राप्ति का समय', 'मोक्षदायक समय', आदि। इसे 'ब्राह्ममुहूर्त' भी कहा जाता है। गुरुवाणी में इसके लिए 'पिछहु राती', 'पिछल राति', 'झालाघा', 'प्रभात', 'प्रातहकाल', 'भलके', 'सबाही', 'नाम की बेला' आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।[१]

शुरू में ही यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी लगता है कि गुरुमत में 'अमृत वेला' का महत्त्व इसलिए नहीं है कि यह कोई विशेष रूप से शुभ वेला अथवा शुभ मुहूर्त है। गुरुवाणी के अनुसार तो केवल वे ऋतुएँ, महीने, मुहूर्त, घड़ियाँ आदि ही शोभावान हैं या शुभ हैं जो परमात्मा के गुणों का उच्चारण करते हुए व्यतीत हों।[२] अत: जब किसी व्यक्ति को प्रभु की याद आती है अथवा जब कोई व्यक्ति प्रभु परमात्मा का सुमिरन करता है वही समय, मुहूर्त, घड़ी आदि सफल है, सौभाग्यपूर्ण है[3]। वही दिन सुहावना है जिस दिन परमात्मा की याद मन में बस जाये और जिस दिन परमात्मा विस्मृत हो जाये, भूल जाये, उस दिन को धिक्कार है, चाहे उस दिन मौसम कितना ही अच्छा या सुहावना क्यों न हो।[४]

आमतौर पर रात के अन्तिम पहर या सूर्योदय से एक पहर (तीन घण्टे) पहले के समय को 'अमृत वेला' कहा जाता है। यह दिन का ऐसा भाग है जब वातावरण नितान्त नीरव, निस्तब्ध और सतोगुणी होता है। चहुँ ओर शान्ति का राज्य होता है। मनुष्य सोकर पूरा आराम कर चुका होता है। इस समय जाग उठनेवाला व्यक्ति शीघ्र ही स्नान आदि करके आलस्य से छुटकारा पाकर तरोताज़ा हुआ होता है। दैनिक काम-काज की चिन्ताओं और व्यस्तताओं ने अभी उसे घेरा नहीं होता। उसकी चित्तवृत्तियाँ इधर-उधर बिखरी नहीं होती। उसका मन उत्तेजना और उद्वेग से रहित होता है। उसका स्नायु-तन्त्र (nervous system) शान्त एवं आराम में होने के कारण, ज्ञान ग्रहण करने की बेहतर स्थिति में होता है। यदि ऐसे, अनुकूल समय में चिन्तन, मनन आदि किया जाये तो मन को ज़रा आसानी से एकाग्र किया जा सकता है। इसीलिए 'अमृत वेला' को आध्यात्मिक साधना के लिए अधिक उपयोगी माना गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'अमृत वेला' में मन रूपी धरती में अपेक्षित आर्द्रता या नमी कुदरती तौर पर मौजूद होती है और यदि ऐसे समय इसमें प्रभु के नाम का बीज बोया जाये तो वह खूब फूलता-फलता है।[5]

यही कारण है कि सिक्ख, साधक के अनुशासित जीवन की दैनिक समय-सारिणी (timetable), अमृत वेला में, नाम-सुमिरन और परमात्मा के गुणानुवाद के नितनेम की पहली मद से शुरू होती है।[६] हाँ, यह ज़रूरी नहीं कि जो व्यक्ति अमृत वेला में साधना करते हैं उन सबको मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी। वास्तव में, किसी व्यक्ति की साधना की सफलता, असफलता या उस द्वारा मुक्ति प्राप्त करना प्रभु, परमात्मा की कृपा पर निर्भर करता है न कि इस बात पर कि वह कितनी साधना करता है या किस समय साधना करता है।[७] एक बात और। मनुष्य का शरीर अथवा यह जन्म कर्मों का खेत है।[८] जैसे खेत में बीज बोना किसान का कर्म है परन्तु फ़सल कैसी होगी यह किसान के हाथ में नहीं है। अपनी ओर से हर कोई अपने भले के लिए फ़सल बोता है और ख़ूब मेहनत भी करता है। परन्तु वही खेत अच्छा उगता है जो प्रभु को अच्छा लगता है।[९] इसी प्रकार मनुष्य कर्म करता है परन्तु कर्मों के फल के बारे में निर्णय मनुष्य के हाथ में न होकर दैवी विधान पर निर्भर करता है। अपने कर्मों की गति के बारे में मनुष्य को कोई जानकारी नहीं है।[१०]

जो कुछ अथवा जो साधना हम प्रत्यक्ष तौर पर करते हैं वह मुक्ति-प्राप्ति का असली साधन नहीं है। वह सब कुछ तो हमारी आंतरिक अथवा मानसिक प्रक्रियाओं की सहायता अथवा हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए है। अतः उसका संबंध हमारे अन्तःकरण के साथ है।[११] इसलिए जो लोग अपने मन को साधने की परवाह न करके केवल बाहरी क्रियाओं में उलझ कर रह जाते हैं वे वास्तविक तत्त्व प्राप्त करने से चूक जाते हैं। बाहरी क्रियाएँ केवल वाहन मात्र हैं। वाहन किसी विशेष मंज़िल तक पहुँचने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। कोई भी वाहन अपने-आप में मंज़िल नहीं होता। हमें यह भी कभी नहीं भूलना चाहिए कि आम लोगों को तो काफ़ी हद तक दिखावेमात्र से भी प्रसन्न किया जा सकता है परन्तु परमात्मा को नहीं। परमात्मा, आम लोगों की तरह, नादान नहीं है, वह सब के अन्दर की भावना और सच्चाई को जानता है।[१२]

किसी भी साधना को, कभी भी, किसी प्रकार का बोझ, मजबूरी या कोई यों ही थोपा हुआ अरुचिकर काम नहीं समझना चाहिए। मजबूरी समझ कर या बेदिली से किये गये काम से और यान्त्रिक रूप से की गयी दीर्घकालीन साधना का भी कोई वास्तविक लाभ नहीं होता। किसी भी काम को मन लगाकर, ईमानदारी और स्वेच्छा से तथा प्रसन्नतापूर्वक करने से ही सन्तुष्टि एवं सिद्धि प्राप्त होती है।[१३] प्रेम एक ऐसा कारगर साधन है जो परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने में, प्रभु के निकट पहुँचने में, मनुष्य की सहायता करता है। अतः नाम-सुमिरन आदि आध्यात्मिक साधनाएँ प्रभु के प्रेम में भीग कर, सावधान और एकाग्रचित्त होकर, परन्तु हर प्रकार के तनाव, चिन्ता आदि से मुक्त रहकर, सहज रूप से ही करनी चाहिए।[१४]

हम जानते हैं कि ईश्वर-साक्षात्कार के लिए नाम-साधना अति उत्तम साधन है। परन्तु अपने चंचल स्वभाव के कारण मानव-मन हर समय इधर-उधर भटकता रहता है। इसे कुछ पल के लिए टिकाकर रखने के लिए भी निरन्तर प्रयास करते रहने की ज़रूरत पड़ती है। जो लोग ईश्वर-प्राप्ति को अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लेते हैं, वे अपने मन को परमात्मा की याद में लगाये रखने का प्रयास निरन्तर करते रहते हैं।

गुरु-परायण नाम-अभ्यासी सज्जनों का अनुभव बताता है कि मन की चंचलता की परवा किये बिना, अमृत वेला में मन को प्रेम और दृढ़तापूर्वक नाम-साधना में लगाये रखना अति आवश्यक है। मन के चंचल स्वभाव से कभी निराश नहीं होना है। मन को नाम-साधना में लगाकर धीरे-धीरे इसके स्वभाव को बदल देना है। अमृत वेला में नित्यप्रति, नियमित रूप से नाम-साधना करते रहने से चंचल मन भी एक अनुशासन में बँध जाता है। धीरे-धीरे, नाम-साधना उसकी आदत-सी बन जाती है। इस मश्क़ या अभ्यास (practice) को निरन्तर जारी रखने का एक अद्‌भुत लाभ होता है। इसके फलस्वरूप एक ऐसा समय आता है जब नाम-साधना साधक के चेतना-प्रवाह (stream of consciousness अर्थात् मानव चेतना में प्रतिक्षण उठने वाली अनुभूतियों, विचारों आदि की तरंगों या धाराओं) का हिस्सा बन जाती है। फलतः साधक के मन का एक हिस्सा अपने आप, अन्दर ही अन्दर, स्वाभाविक रूप से, नाम-साधना में निरन्तर लगा रहता है।

इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता कि हमें अपना हर दिन अमृत वेला में, प्रभु के नाम-सुमिरन आदि के नितनेम से ही शुरू करना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि हमें नाम-सुमिरन आदि केवल अमृत वेला में ही करना चाहिए किसी अन्य समय नहीं। प्रभु के नाम-सुमिरन, चिन्तन आदि का काम ऐसा नहीं है जिसके लिए कोई निश्चित या नियमित एक-आध घण्टे का समय ही काफ़ी हो। वास्तव में, प्रभु-भक्ति के लिए कोई विशेष, सीमित समय निश्चित नहीं किया जा सकता।[१५] इस काम के लिए किसी विशेष मुहूर्त की प्रतीक्षा करके समय गँवाना भी किसी तरह उचित नहीं ठहराया जा सकता; क्या पता अगला श्वास आता भी है या नहीं।[१६] अतः हमें दिन-रात, हर समय हरि प्रभु के नाम का सुमिरन करना चाहिए, प्रभु परमात्मा को निरन्तर याद रखना चाहिए।[१७]

स्पष्ट है कि अमृत वेला की नितनेम की बैठक समाप्त होने के बाद भी मन में नाम-सुमिरन लगातार जारी रहना चाहिए। हाँ, इस मानसिक अवस्था तक पहुँचने के लिए निरन्तर, सावधान रहकर, आवश्यक उद्यम, परिश्रम व अभ्यास करना ज़रूरी है ताकि सुमिरन आदि में मन लगाने की प्रक्रिया में आनेवाली बाधाओं से छुटकारा पाया

जा सके और मन को इधर-उधर भटकने से रोककर प्रभु के चरणों में टिकाये रखने का अभ्यास किया जा सके। इस अभ्यास के लिए अत्यन्त दृढ़ता और अध्यवसाय की बहुत आवश्यकता है। यह अभ्यास तब तक जारी रखा जाना चाहिए जब तक ऐसा प्रयास करते-करते, प्रभु-कृपा के फलस्वरूप, नाम-सुमिरन साधक की नैसर्गिक रुचि अथवा साधक के मन का स्वभाव ही न बन जाये। गुरु-परमेश्वर की कृपा से जिस व्यक्ति का मन नाम-सुमिरन में इस हद तक अभ्यस्त हो जाता है, उसे नाम-रस पीने की पक्की आदत पड़ जाती है। फिर उसे माया का कोई रस, कोई स्वाद या आकर्षण अच्छा नहीं लगता और, इसलिए, उसे अपने पथ से डुला नहीं सकता[१८]। साधक की मनोवृत्ति ही ऐसी हो जाती है कि वाहिगुरु का सुमिरन करना उसके लिए श्वास लेने की तरह स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाती है। यह विश्वास उसके मन में दृढ़ हो जाता है कि जो श्वास परमात्मा की याद के बिना निकलता है वह व्यर्थ हो जाता है। वह हर श्वास के साथ अपने प्रियतम परमात्मा को याद करता जाता है। परन्तु अपनी इस अवस्था का श्रेय वह अपनी मेहनत को नहीं देता; इसे वह प्रभु परमात्मा की बख़्शिश का फल समझता है।[१९] वह ज़ाहिरा तौर पर अपने सारे सांसारिक काम-काज करता हुआ, अपने सभी कर्त्तव्य निबाहता हुआ भी, अन्दरूनी तौर पर प्रभु की याद में निरन्तर जुड़ा रहता है।[२०]

वास्तव में, परमात्मा ही अकेला ऐसा सज्जन है जो कभी नहीं मरता। प्रत्येक घट में निवास करने के कारण वह सबके निकटतम रहता है। ऐसे अमृत सज्जन का नाम-अमृत, अमर-पद प्राप्त करने में सहायता करता है।[२१] जो व्यक्ति हर समय परमात्मा के सुमिरन में अनुरक्त रहता है उसके लिए हर समय अमृत वेला बन जाता है। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि दिन का कोई अन्य समय अमृत वेला का स्थान नहीं ले सकता।

उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि हरेक व्यक्ति को हर समय परमात्मा का सुमिरन करते हुए, परमात्मा की हुज़ूरी में जीवन बिताते हुए, अपना सारा जीवन ही अमृत वेला बनाना है। हर समय को अमृत वेला बनाने के लिए अपनी दैनिक समय-सारिणी को रोज़ अमृत वेला में नाम-सुमिरन और प्रभु-परमात्मा के गुणानुवाद के नितनेम की पहली मद से शुरू करना चाहिए। ऐसा करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि मानव-जीवन ही वह दुर्लभ अवसर है जब उस जगजीवन, कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु को पाना अथवा उससे मिलना सम्भव है। हाँ, यह हर व्यक्ति की अपनी मरज़ी पर निर्भर करता है कि वह इस संसार से अपने जीवन की बाज़ी को जीत कर जाना चाहता है या हार कर।[२२]

सन्दर्भ

१. पिछहु राती सदड़ा नामु खसम का लेहि।। मारू , महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ९८९
झालाघे उठि नामु जपि निसि बासुर आराधि।। गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ २५५
नाउ प्रभातै सबदि धिआईऐ, छोडहु दुनी परीता।। प्रभाती, महला १, वही, पृष्ठ १३३०
प्रातहकालि हरि नामु उचारी।। ईत ऊत की ओट सवारी।। सूही, महला ५, वही पृष्ठ ७४३
भलके उठि पराहुणा मैरै घरि आवउ।। वार गउड़ी, महला ५, वही पृष्ठ ३१८
सबाही सालाह, जिनी धिआइआ इक मनि।।
सेई पूरे साह वखतै उपरि लड़ि मुए।। वार माझ, महला १, वही पृष्ठ १४५

२. रुती माह मूरत घड़ी गुण उचरत सोभावंत जीउ।। रामकली, महला ५, वही, पृष्ठ ९२७

३. सा वेला, सो मूरतु सा घड़ी सो मुहतु सफलु है मेरी जिंदुड़ीए,
जितु हरि मेरा चिति आवै राम।। बिहागड़ा, महला ४, वही, पृष्ठ ५४०

४. नानक सोई दिनसु सुहावड़ा, जितु प्रभु आवै चिति।।
जितु दिनि विसरै पारब्रहमु, फिटु भलेरी रुति।। गउड़ी, महला ५, वही पृष्ठ ३१८

५. हरि धनु अंम्रित वेलै वतै का बीजिआ, भगत खाइ खरचि रहे निखुटै नाही।।
सूही, महला ४, वही, पृष्ठ ७३४

६. गुर सतिगुर का जो सिखु अखाए, सु भलके उठि हरिनामु धिआवै।।
उदमु करे भलके परभाती, इसनानु करे अंम्रितसरि नावै।
वार गउड़ी, महला ४, वही, पृष्ठ ३०५

७. भुगति मुकति का कारनु सुआमी, मूड़ ताहि बिसरावै।। गउड़ी, महला ९, वही, पृष्ठ २१९

८. जेहा बीजै सो लुणै करमा संदड़ा खेतु।। बारहमाहा, माझ, महला ५, वही, पृष्ठ १३४

९. सभु को बीजे आपणे भले नो,
हरि भावै सो खेतु जमाइआ।। वार गउड़ी, महला ४, वही, पृष्ठ ३०४

१०. अपने करम की गति में किआ जानउ।।
मै किआ जानउ बाबा रे।। १।। रहाउ।। गोंड, कबीर जी, वही, पृष्ठ ८७०

११. ममा मन सिउ काजु है, मन साधे सिधि होइ।।
मन ही मन सिउ कहै कबीरा,
मन सा मिलिआ न कोइ।। ३२।। गउड़ी, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ ३४२

१२. लोक पतीणे कछू न होवै, नाही रामु अयाना।। आसा, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ ४८४

१३. बधा चटी जो भरे ना गुणु ना उपकारु।।
सेती खुसी सवारीऐ, नानक कारजु सारु।। सलोकु, महला २, वही, पृष्ठ ७८७

१४. भाई रे रामु कहहु चितु लाइ।।
हरि जसु वखरु लै चलहु, सहु देखै पतीआइ।। सिरीरागु, महला १ वही. पृष्ठ २२,
प्रभ की उसतति करहु संत मीत।।
सावधान एकागर चीत।। गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २९५

हरि का बिलोवना बिलोवहु मेरे भाई।।
सहजि बिलोवहु जैसे ततु न जाई।। १।। रहाउ — आसा, कबीर जीउ, वही पृष्ठ ४७८

१५. जे वेला वखतु वीचारीऐ ता कितु वेला भगति होइ।।
अनदिनु नामे रतिआ सचे सची सोइ।।
इकु तिलु पिआरा विसरै भगत्ति किनेही होइ।। — सिरीरागु, महला ३, वही, पृष्ठ ३५

माहा रुती सभ तूं, घड़ी, मूरत वीचारा।।
तूं गणतै किनै न पाइओ, सचे अलख अपारा।। — वार माझ, महला १, वही, पृष्ठ १४०

१६. हरि जपदिआ खिनु ढिल न कीजई मेरी जिंदुड़ीए,
मतु कि जापै साहु आवै कि न आवै राम।। — बिहागड़ा, महला ४, वही, पृष्ठ ५४०

१७. दिनु राती आराधहु पिआरो, निमख न कीजै ढीला।। — गूजरी, महला ५, वही, पृष्ठ ४९८
सदा सदा जपीऐ हरि नाम।।
पूरन होवहि मन के काम।। १।। रहाउ।। — सूही, महला ५, वही, पृष्ठ ७४३

सभे वखत सभे करि वेला।।
खालकु यादि दिलै महि मउला।। — मारू, महला ५, वही, पृष्ठ १०८४

१८. इह रस छाडे उहु रसु आवा।।
उहु रसु पीआ इह रसु नहीं भावा।। — गउड़ी, कबीर जी, वही, पृष्ठ ३४२

१९. जो दमु चिति न आवई सो दमु बिरथा जाइ।। — सूही, महला १, वही, पृष्ठ ७३०

इकु दमु साचा वीसरै सा वेला बिरथा जाइ।।
साहि साहि सदा समलीऐ, आपे बखसे करे रजाइ।। — गूजरी, महला ३, वही, पृष्ठ ५०६

२०. नामा कहै तिलोचना मुख ते रामु संम्हालि।
हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरंजनु नालि।। — सलोक, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ १३७५-७६

२१. घट घट वासी सरब निवासी नैरे ही ते नेरा।।
नानक दासु सदा सरणागति हरि अंम्रित सजणु मेरा।। — सूही, महला ५, वही, पृष्ठ ७८४

हरि का नामु अंम्रितु कलि माहि।।
एहु निधाना साधू पाहि।। — रामकली, महला ५, वही, पृष्ठ ८८८

इहु हरि रसु पावै जनु कोइ।।
अंम्रितु पीवै अमरु सो होइ।। — गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २८७

२२. भई परापति मानुख देहुरीआ।।
गोबिंद मिलण की इह तेरी बरीआ।। — आसा, महला ५, वही, पृष्ठ १२

मिलु जगदीस मिलन की बरीआ।।
चिरंकाल इह देह संजरीआ।। — गउड़ी गुआरेरी, महला ५, वही, पृष्ठ १७६

इही तेरा अउसरु, इह तेरी बार।।
घट भीतरि तू देखु बिचारि।।
कहत कबीरु जीति कै हारि।।
बहु बिधि कहिओ पुकारि पुकारि।। — भैरउ, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ ११५९

परिशिष्ट-३

तीर्थ का संकल्प

लगभग सभी धर्मों में कुछ विशेष स्थानों को पवित्र माना गया है। ऐसे स्थानों को संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में 'तीर्थ' कहा जाता है। व्याकरण के अनुसार 'तीर्थ' शब्द, संस्कृत की 'तृ' धातु के आथ 'थक्' प्रत्यय लगने से बना है। 'तृ' का अर्थ है 'पार होना', 'पार करना', 'छुटकारा पाना', 'छूट जाना' आदि।[१] इस तरह तीर्थ का शाब्दिक अर्थ है, "नदी पार करने का स्थान अथवा घाट। विश्वास किया जाता है कि तीर्थ भवसागर पार करने का घाट है।"[२] आचार्य रामचन्द्र वर्मा ने तीर्थ शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया है—"कोई ऐसा स्थान, विशेषत: जलाशय, नदी, समुद्र आदि के पास का स्थान जिसे लोग धार्मिक दृष्टि से पवित्र और मोक्षदायक समझते हों और श्रद्धापूर्वक दर्शन, पूजन आदि के लिए जाते हों।[३]"

'तीर्थ' शब्द की उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि तीर्थों को संसार सागर से पार होने अथवा जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त होने का साधन माना जाता है। इसीलिए समय पाकर तीर्थ-यात्रा धर्म-साधना का अंग बन गयी। ऐसे कई स्थलों पर, विशेष अवसरों पर, बड़े-बड़े उत्सवों का आयोजन किया जाता है। ऐसे विशेष अवसरों पर उनकी यात्रा को अधिक लाभदायक माना जाता है। लोगों का यह भी विश्वास है कि तीर्थों पर निवास करने मात्र से पापों का नाश हो जाता है और जिस व्यक्ति की मृत्यु किसी विशेष तीर्थ पर हो जाये उसे मुक्ति मिल जाती है।

आलस्य दूर करने, तरोताजा होने और शरीर की सफ़ाई के लिए स्नान करना ज़रूरी है। परन्तु, गुरुवाणी में पार्थिव तीर्थों पर जाकर स्नान करने को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है और तीर्थ के संकल्प के बारे में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इस सन्दर्भ में भाई कान्ह सिंघ नाभा के विचार इस प्रकार हैं, "लोगों को हित का उपदेश देने, कुकर्मों के बन्धनों से मुक्त करने और आमिल तथा आलिम सज्जनों की संगति से लाभ प्राप्त करने और जानकारी बढ़ाने के लिए तीर्थों पर जाना लाभदायक है, परन्तु केवल तीर्थ-स्नान और दर्शन आदि से ही गति मानना अविद्या है।[४]"

शरीर धोने मात्र से शुचिता अथवा पवित्रता प्राप्त नहीं हो जाती। वास्तव में पवित्र अथवा शुचि वे लोग हैं जिनके मन में प्रभु स्वयं बसता है।[५] साकत, खोटे अथवा दुरात्मा व्यक्ति की सारी आयु व्यर्थ ही चली जाती है क्योंकि वह सच्चे प्रभु का सुमिरन नहीं

करता।[६] सारा संसार माया के तीन गुणों—सत्व, रज, तम – के प्रभाव में डूबा रहता है। कोई विरला व्यक्ति ही, इन तीन गुणों से परे की, तुरीय अथवा ब्रह्म में लीन होने अथवा परमात्मा से जुड़े रहने की अवस्था प्राप्त करता है। ऐसे विरले संत जन ही, जिनके मन में प्रभु परमात्मा बसता है, सही अर्थों में निर्मल कहे जा सकते हैं।[७] अत: शुचि प्रभु का ध्यान करने से, प्रभु को पा लेने पर ही शुचिता प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा नहीं।[८]

पानी पीने से प्यास तो मिट सकती है और पानी के साथ स्नान करने से शरीर भी साफ़ किया जा सकता है परन्तु पानी की सहायता से मन का मैल दूर नहीं किया जा सकता है।[९] अत: तीर्थों पर जाकर शरीर को धोकर साफ़ किया जा सकता है परन्तु इस तरह मनुष्य को अहंकार और विकारों से छुटकारा नहीं मिल सकता, चाहे कोई कितने ही तीर्थों पर जाकर स्नान कर ले।[१०] बाहर से पानी के साथ स्नान कर लेने पर भी अन्दर विविध प्रकार के विकार टिके रहते हैं। इसलिए इस प्रकार का स्नान तो हाथी के स्नान जैसा ही है।[११] हम जानते हैं कि कड़वी तुम्बी अथवा लौकी को यदि अड़सठ तीर्थों पर भी स्नान करा लिया जाये तो भी उसके अन्दर का कड़वापन दूर नहीं होता।[१२]

तीर्थ वह है जिससे पाप आदि से छुटकारा मिल जाये—तरति पापादिकं यस्मात्।[१] इसलिए आम तौर पर देखने में आता है कि जो लोग काम, क्रोध आदि पाँच विकारों के वश में होकर पाप कर्म करते रहते हैं, वे किसी तीर्थ पर जाकर स्नान कर लेते हैं और समझ लेते हैं कि इस प्रकार तीर्थ-स्नान कर लेने से उनके द्वारा किये हुए पाप धुल गये हैं। ऐसे लोग नि:शंक होकर फिर से वैसे ही पाप-कर्म करने लग जाते हैं। परन्तु तीर्थ-स्नान उन्हें यमराज से बचा नहीं सकता।[१३] ऐसा भी देखने में आता है कि कुछ व्यक्ति परमात्मा का सुमिरन तो नहीं करते परन्तु तीर्थों की यात्रा करते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के मन में यह विचार घर कर जाता है कि वे दूसरे लोगों के मुकाबले में अधिक धार्मिक हैं। इस प्रकार मन की मैल दूर करने की जगह वे अपने मन में अहंकार की और अधिक मैल जमा कर लेते हैं।[१४]

तीर्थ-स्नान करने के लिए भले लोग भी जाते हैं और बुरे लोग भी। परन्तु भले लोग तीर्थ-स्नान करके और तीर्थ-स्नान किये बिना भी भले ही रहते हैं और चोर तीर्थ-स्नान करने के बाद भी चोर ही रहते हैं।[१५] इस तरह बाहर से निर्मल और अन्दर से मलीन रहने वाले व्यक्ति संसार में आकर मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने की बजाय यहाँ से अपने जीवन की बाज़ी हारकर जाते हैं।[१६]

तीर्थ-यात्रा करके लोगों को तो प्रभावित किया जा सकता है ताकि लोग यह समझने लगे कि फ़लाँ व्यक्ति बड़ा भक्त अथवा धर्मात्मा है। परन्तु इस प्रकार के दिखावे से परमात्मा को नहीं छला जा सकता क्योंकि वह नासमझ या अबोध नहीं है। वह हरेक

के दिल की जानता है। जिस व्यक्ति का दिल साफ़ नहीं है वह चाहे कितने ही तीर्थों पर स्नान करता फिरे उसे स्वर्ग अथवा मुक्ति नहीं मिल सकती। यदि मात्र तीर्थ-स्नान से मुक्ति सम्भव होती तो सभी मेंढक मुक्त हो जाते क्योंकि वे तो रहते ही जल में हैं। परन्तु जैसे वे मेंढक हैं वैसे ही वे मनुष्य; परमात्मा के नाम के बिना वे सदा जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।[१७] इसीलिए कबीर साहिब ने कहा है कि चाहे कोई व्यक्ति गंगा के किनारे घर बना कर रहने लग जाये और गंगा का निर्मल जल भी पीता रहे तो भी परमात्मा की भक्ति के बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती।[१८]

कई व्यक्तियों के मन की इच्छा होती है कि किसी तीर्थ पर जाकर देह का त्याग किया जाये। परन्तु ऐसी इच्छा करने से भी मन का अहंकार कम नहीं होता।[१९] स्पष्ट है कि तीर्थों पर जाकर स्नान करने से परमात्मा वश में नहीं आता।[२०] फिर, चाहे माघ की संक्रान्ति के अवसर पर प्रयाग जाकर बहुत दान किया जाये या काशी जाकर आरे के साथ अपना शरीर दोफाड़ करवा लिया जाये— दो भागों में, आधा-आधा, चिरवा लिया जाये। परमात्मा के नाम का सुमिरन किये बिना कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।[२१]

मोह एवं विकारों की दलदल से कोई भी व्यक्ति अपने बल से नहीं निकल सकता। इसके लिए उसे सद्गुरु[२२] रूपी आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक की संगति प्राप्त करनी पड़ती है।[२३] सद्गुरु, जो दिन रात, अर्थात् हर समय, हरि के नाम का ध्यान करता है, पूरा तीर्थ है।[२४] गुरु सदा कायम रहने वाले जगत्-पालक, प्रभु परमात्मा का रूप है, अत: उसके समान कोई तीर्थ नहीं है।[२५] सदा सत्य का उपदेश देने वाला सद्गुरु अमृत, अर्थात् प्रभु के नाम रूपी जल, का सरोवर है। ऐसे गुरु रूपी सरोवर में स्नान करने से आत्मिक डुबकियाँ लगाने से कौआ, अर्थात् सदा विकारों के गंद में मुँह मार कर खुश रहने वाला व्यक्ति, भी हंस, अर्थात् नीर-क्षीर-विवेकी मनुष्य, बन जाता है; हरिनाम रूपी मोती का प्रेमी बन जाता है। ऐसे व्यक्ति धन्य हैं, बड़े भाग्यवान हैं गुरुमत द्वारा प्राप्त हरिनाम जिनके हृदय की मैल धोता है।[२६] गुरु रूपी तीर्थ से प्रभु के नाम रूपी जल की प्राप्ति होती है जिसमें, अर्थात् गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान में, अवगाहन करने से दुर्मति का मल दूर हो जाता है। पशु और प्रेत-वृत्तिवाले मनुष्य देवता बन जाते हैं।[२७] सद्गुरु न केवल पूरा तीर्थ है बल्कि परमात्मा के किले रूपी मंदिर तक पहुँचने के लिए पैड़ी है, संसार सागर से पार होने के लिए नाव अथवा पोत है। प्रभु की कृपा हो जाये तो गुरु से मिलकर मनुष्य की मति निर्मल हो जाती है क्योंकि वह साधु-संगति के सरोवर में मानसिक स्नान करने लग पड़ता है।[२८]

सत्संगति उस इकट्ठ को कहा जाता है जहाँ केवल एक, अद्वितीय परमात्मा के नाम का बखान होता है। हमारे लिए नाम जपना अथवा नाम-सुमिरन करना ही प्रभु का

आदेश है यह बात सद्गुरु से पता चलती है।[२९] इस तरह सत्संगति सद्गुरु की पाठशाला है जहाँ परमात्मा के अथवा दैवी गुणों की शिक्षा मिलती है।[३०] अतः सद्गुरु के बिना सत्संगति संभव नहीं है और गुरु के उपदेश को अपनाये बिना मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।[३१] गुरु के बिना मोह और अज्ञान का गुबार छाया रहता है। जो व्यक्ति सद्गुरु के सम्पर्क में आकर सद्गुरु से उपदेश ग्रहण करता है, सद्गुरु उसके मन में सदा-स्थिर प्रभु का नाम दृढ़ करा देता है।[३२] गुरु के उपदेश से ही आत्मिक जीवन का यह तत्त्व अथवा रहस्य समझ में आता है कि परमात्मा का नाम ही हमारा परम तीर्थ है।[३३] अपने एक सबद में श्री गुरु नानक देव जी फ़रमाते हैं कि में भी तीर्थ-स्नान करने जाता हूँ परन्तु मेरे लिए परमात्मा का नाम ही तीर्थ है। गुरु के शब्द को अपने विचार-मण्डल में टिका लेना ही मेरे लिए तीर्थ है जिसके द्वारा अन्तर्ज्ञान पैदा हो जाता है। सद्गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान मेरे लिए सदा कायम रहने वाला तीर्थ-स्थान है, दस पवित्र दिनों का समाहार है और गंगा का जन्म-दिन भी। संसार विकारों से ग्रस्त रोगी हुआ पड़ा है। इस रोगी का इलाज प्रभु का नाम है। सदा-स्थिर प्रभु के नाम के बिना मन को विकारों की मैल लग जाती है। गुरु का पवित्र वाक्, गुरु की वाणी अथवा उपदेश, मनुष्य को सदा ज्ञान रूपी प्रकाश देता रहता है। यही सदा कायम रहनेवाला तीर्थ है और इसका अवगाहन ही वास्तविक तीर्थ-स्नान है।[३४]

परमात्मा का नाम ही वास्तविक अड़सठ तीर्थों का समूह है। इसमें स्नान करने से सारे पापों का नाश हो जाता है।[३५] जो व्यक्ति परमात्मा के नाम का उच्चारण करता है और उसे अपने कानों द्वारा सुनता है, उसका संसार सागर से उद्धार हो जाता है। ऐसा व्यक्ति घर बैठे अड़सठ तीर्थों का स्नान कर लेता है।[३६] परमात्मा की स्तुति ही गंगा और काशी आदि तीर्थों का स्नान है। परमात्मा की स्तुति में ही मनुष्य की आत्मा स्नान करती है। अतः सच्चा तीर्थ-स्नान तभी होता है जब किसी व्यक्ति को दिन-रात प्रभु की लगन लगी रहे।[३७] जिस व्यक्ति के मन में प्रभु का नाम बस जाता है उसे किसी प्रकार के ज्ञान, ध्यान (समाधि) या पूजा आदि करने की ज़रूरत नहीं रहती और न ही उसे तीर्थों पर भटकना, विभिन्न भेस बनाना या हठ साधना करना आदि अच्छा लगता है। सत्य-स्वरूप परमात्मा की शरण लेने वाला व्यक्ति ऐसी किसी प्रकार की क्रिया अथवा साधना पर आश्रित नहीं रहता।[३८]

परमात्मा के नाम का सुमिरन करके जब किसी व्यक्ति का मन बिलकुल निर्मल, अथवा विकार-रहित हो जाता है तब परमात्मा स्वयं उसे पुकारता फिरता है।[३९] भर्तृहरि का कहना है कि यदि मनुष्य का मन पवित्र है तो उसे तीर्थों पर भटकने की आवश्यकता नहीं है[४०]। निर्मल मन ही तीर्थ है। प्रसिद्ध कहावत भी है— मन चंगा तो कठौती में गंगा।

ऐसे पवित्र मन वाले प्रभु-परायण, गुरुमुख सत्पुरुष जहाँ पग धरते हैं उसी स्थान पर अड़सठ तीर्थ उपस्थित समझे जाने चाहिए। जहाँ ऐसे सज्जन परमात्मा के नाम का उच्चारण करते हैं वहीं वैकुण्ठ अथवा स्वर्ग बन जाता है।[४१] गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती आदि पवित्र नदियाँ ऐसे सत्पुरुषों के चरणों की धूलि प्राप्त करने के लिए यत्न करती रहती है क्योंकि उनमें जो विकारों की मैल भर जाती है उसे भी सत्पुरुषों की चरण धूलि दूर कर देती है।[४२]

गुरुवाणी के अनुसार, मनुष्य का शरीर एक सुन्दर सरोवर है। जो मनुष्य प्रभु के चरणों में अपनी सुरत अथवा सुध जोड़े रखता है वह इस सरोवर में स्नान करता है। जो मनुष्य प्रभु के नाम में स्नान करते हैं वे निर्मल हैं, क्योंकि उन्होंने गुरु के शब्द अथवा उपदेश द्वारा अपने मन के विकारों की मैल दूर कर ली है।[४३] सद्गुरु के उपदेश को मन में बसाकर जो व्यक्ति प्रभु-परमात्मा की याद में लीन रहता है उसका हृदय आत्म-तीर्थ बन जाता है।[४४] फिर वह किसी बाहरले, भौतिक अथवा पार्थिव तीर्थ पर जाने की इच्छा ही नहीं करता।[४५] इसीलिए गुरुवाणी में आत्म-तीर्थ पर निवास करने और स्नान करने, अर्थात् परमात्मा की याद में निरन्तर जुड़े रहने, का उपदेश दिया है।[४६]

गुरुवाणी में पार्थिव तीर्थों पर स्नान करने का स्पष्ट रूप से निषेध होने के बावजूद कुछ लोग तीर्थ-यात्रा को गुरुमत के अनुकूल बताकर लोगों को गुमराह करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे लोगों का कहना है कि श्री गुरु नानक देव जी भी तो अनेक तीर्थों पर गये थे। श्री गुरु जी की जीवनी का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे न केवल हिन्दुओं के तीर्थों पर गये थे बल्कि उन्होंने मुसलमानों के सुप्रसिद्ध तीर्थ मक्का की भी यात्रा की थी। परन्तु इस संदर्भ में समझने वाली बात यह है कि श्री गुरु जी तीर्थ-यात्रा को धर्म का अंग मान कर तीर्थों पर नहीं गये थे। वे तो वहाँ पर इकट्ठे हुए, विभिन्न मत-मतांतरों के साधु-महात्माओं से विचार-गोष्ठियाँ करने और लोगों को गुरुमत मार्ग का सत्संदेश देकर उनका उद्धार करने गये थे।[४७] गुरुवाणी में दिये हुए उपदेश को विचार कर, अपनी दुर्मति की मैल को दूर करना ही सद्गुरु जी का असली दर्शन करना है। गुरु-उपदेश के अनुसार अपना जीवन बनाना ही हमारे लिए सबसे श्रेष्ठ पर्व अथवा श्रेष्ठ अवसर पर किया गया तीर्थ-स्नान है।[४८]

संदर्भ और टिप्पणियाँ

१. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा तथा पण्डित तारिणीश झा, *संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ*, द्वितीय संस्करण (इलाहाबाद, रामनारायण लाल, १९५७), पृष्ठ ४८८ और ४९३

२. राजबली पाण्डेय डॉ., *हिन्दू धर्म कोश*, द्वितीय संस्करण (लखनऊ, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, १९८८) पृष्ठ २९९

३. *मानक हिन्दी शब्दकोश,* प्रथम संस्करण, द्वितीय खण्ड, (प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, २०१९ वि०) पृष्ठ ५५८

४. *गुरमत मारतंड,* भाग दूसरा, चौथी बार (श्री अमृतसर, श्रोमणी गुरदुआरा प्रबंधक कमेटी, १९९८), पृष्ठ ५५९

५. सूचे एहि न आखीअहि बहनि जि पिंडा धोइ।।
सूचे सेई नानका जिन मनि वसिआ सोइ।। २।।
सलोकु, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४७२

६. बिरथी साकत की आरजा।। साच बिना कह होवत सूचा।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २६९

७. तीनि बिआपहि जगत कउ तुरीआ पावै कोइ।।
नानक संत निरमल भए जिन मनि वसिआ सोइ।। थिती गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ २९७.

८. कहु नानक सचु धिआईऐ।। सुचि होवै ता, सचु पाईऐ।। सलोकु, महला १, वही, पृष्ठ ४७२.

९. पाणी चितु न धोपई, मुखि पीतै तिख जाइ।। सलोकु, महला १, वही, पृष्ठ १२४०

१०. अनेक तीरथ जे जतन करै, ता अंतर की हउमै कदे न जाइ।।
गूजरी, महला ३, वही, पृष्ठ ४९१

११. बाहरु उदकि पखारीऐ, घट भीतरि बिबिधि बिकार।।
सुध कवन पर होइबो, सुच कुंचर बिधि बिउहार।। गउड़ी, रविदास जीउ; वही, पृष्ठ ३४६

१२. लउकी अठसठि तीरथ न्हाई।। कउरापनु तऊ न जाई।।
रागु सोरठि, भगत कबीर जी, वही, पृष्ठ ६५६

१३. पाप करहि पंचां के बसि रे।। तीरथि नाइ कहहि सभि उतरे।।
बहुरि कमावहि होइ निसंक।। जम पुरि बांधि खरे कालंक।। २।।
प्रभाती, महला ५, वही, पृष्ठ १३४८

१४. इहु मनु मैला इकु न धिआए।। अंतरि मैलु लागी बहु दूजै भाए।।
तटि तीरथि दिसंतरि भवै अहंकारी, होरु वधैरै हउमै मलु लावणिआ।। ३।।
माझ, महला ३, वही, पृष्ठ ११६

१५. साध भले अणनातिआ चोर सि चोरा चोर।। सलोकु, महला १, वही, पृष्ठ ७८९

१६. जीअहु मैले बाहरहु निरमल।।
बाहरहु निरमल जीअहु त मैले, तिनी जनम जूऐ हारिआ।।
रामकली, महला ३, अनंदु, वही, पृष्ठ ९१९.

१७. अंतरि मैलु जे तीरथ नावै, तिसु बैकुंठ न जानां।।
लोक पतीणे कछू न होवै, नाही रामु अयाना।। १।।
पूजहु रामु ऐकु ही देवा।। साचा नावणु गुर की सेवा।। १।। रहाउ।।
जल कै मजनि जे गति होवै, नित नित मेंडुक नावहि।।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर, फिरि फिरि जोनी आवहि।। २।। आसा, कबीर जी, वही, पृष्ठ ४८४

१८. कबीर गंगा तीर जु घरु करहि, पीवहि निरमल नीरु ॥
बिनु हरि भगति न मुकति होइ, इउ कहि रमे कबीर।।५४।।

सलोक कबीर जीउ, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३६७

इस विषय में, परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं, "गंगा में स्नान करने से अथवा उसका जल पान करने से पाप नहीं धुलते। यदि गंगा के स्नान आदि से पाप धुलने की बात सत्य होती तो गंगा के तट पर रहने वाले वसिष्ठ एवं विश्वामित्र एक-दूसरे के रक्त के प्यासे न बनते।"

भर्तृहरिशतकम् (दिल्ली, सुबोध पब्लिकेशन्स, १९८७) पृष्ठ १२६

१९. मन कामना तीरथ देह छुटै।।
गरबु गुमानु न मन ते हुटै।। गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २६५

२०. ना तू आवहि वसि तीरथि नाईऐ।।
ना तू आवहि वसि धरती धाईऐ।। रामकली की वार, महला ५, वही, पृष्ठ ९६२

२१. मकर प्रागि दानु बहु कीआ सरीरु दीओ अध काटि।।
बिनु हरि नाम को मुकति न पावै बहु कंचनु दीजै कटि काट।। २।।

माली गउड़ा, महला ४, वही, पृष्ठ ९८६

२२. गुरुमत के अनुसार 'गुरु' के संकल्प के लिए परिशिष्ट-१ में 'गुरप्रसादि' समस्त-पद की व्याख्या देखिये।

२३. जिसु जीउ अंतरु मैला होइ।। तीरथ भवै दिसंतर लोइ।।
नानक मिलीऐ सतिगुर संग।। तउ भवजल के तूटसि बंध।। बसंतु, महला ३, वही, पृष्ठ ११६९

२४. तीरथु पूरा सतिगुरू जो अनदिनु हरि हरि नामु धिआए।

सलोकु, महला ४, वही, पृष्ठ १४०

२५. नानक गुर समानि तीरथु नही कोई, साचे गुर गोपाला।। आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४३७

२६. अंम्रितसरु सतिगुरु सतिवादी जितु नातै कऊआ हंसु होहै।।
नानक धनु धंनु वडे वडभागी जिन्ह गुरुमति नामु रिदै मलु धोहै।।

गूजरी, महला ४, वही, पृष्ठ ४९३

गुरु सागरु अंम्रितसरु जो इछे सो फलु पाए।।
नामु पदारथु अमरु है हिरदै मंनि वसाए।। मारु, महला १, वही, पृष्ठ १०११

२७. गुरु दरीआउ सदा जलु निरमलु मिलिआ दुरमति मैलु हरै।।
सतिगुरि पाइऐ पूरा नावणु पसू परेतहु देव करै।। २।। प्रभाती, महला १, वही, पृष्ठ १३२९

२८. गुरु पउड़ी बेड़ी गुरू, गुरु तुलहा हरि नाउ।।
गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथु दरिआउ।।
जे तिसु भावै ऊजली सत सरि नावण जाउ ।।३।। सिरी रागु, महला १, वही, पृष्ठ १७

२९. सतसंगति कैसी जाणीऐ।। जिथै एको नामु वखाणीऐ।।
एको नामु हुकमु है नानक, सतिगुरि दीआ बुझाइ जीउ।। २।।
सिरीरागु, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ७२

सतिसंगति साई हरि तेरी जितु हरि कीरति हरि सुनणे।। भैरउ, महला ४, वही, पृष्ठ ११३५

३०. सतिसंगति सतिगुर चटसाल है, जितु हरि गुण सिख़ा।। वार कानड़ा, महला ४, वही, पृष्ठ १३१६

३१. सतिगुर बाझहु संगति न होई। बिनु सबदे पारु न पाए कोई।। मारू, महला ३, वही, पृष्ठ १०६८

३२. बाझु गुरू है मोहु गुबारा।। फिरि फिरि डुबै वारो वारा।।
सतिगुर भेटे सचु द्रिड़ाए सचु नामु मनि भाइआ।। ८।।
मारू, महला ३, वही, पृष्ठ १०६८

३३. तीरथु हमरा हरि को नामु।।
गुरि उपदेसिआ ततु गिआनु।। १।। रहाउ।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११४२

३४. तीरथि नावण जाउ तीरथु नामु है।। तीरथु सबद बीचारु अंतरि गिआनु है।।
गुर गिआनु साचा थानु तीरथु दस पुरब सदा दसाहरा।।
हउ नामु हरि का सदा जाचउ देहु प्रभ धरणीधरा।।
संसारु रोगी, नामु दारू, मैलु लागै सच बिना।।
गुर वाकु निरमलु सदा चानणु नित साचु तीरथु मजना।। धनासरी, महला १, वही, पृष्ठ ६८७

३५. अठसठि तीरथ हरि नामु है किलविख काटणहारा।। २।। मारू, महला १, वही, पृष्ठ १००९

पतित पुनीत असंख होहि हरि चरनी मनु लाग।।
अठसठि तीरथ नामु प्रभ नानक जिसु मसतकि भाग।। १ ।। मारू, महला १, वही, पृष्ठ ९९०

३६. रसना उचरै हरि स्रवणी सुणै, सो उधरै मिता।।
हरि जसु लिखहि लाइ भावनी से हसत पविता।।
अठसठि तीरथ मजना सभि पुंन तिनि किता।।
संसार सागर ते उधरे बिखिआ गड़ु जिता।। वार गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ ३२२

३७. गंग बनारसि सिफति तुमारी नावै आतम राउ।।
सचा नावणु तां थीऐ जां अहिनिसि लागै भाउ।। ३।। आसा, महला १, वही, पृष्ठ ३५८

३८. मै अवरु गिआनु न धिआनु पूजा, हरि नामु अंतरि वसि रहे।।
भेखु भवनी हठु न जाना नानका सचु गहि रहे।। १।। बिलावलु, महला १, वही, पृष्ठ ८४४

३९. कबीर मनु निरमलु भइआ जैसा गंगा नीरु।।
पाछै लागो हरि फिरै कहत कबीर कबीर।। ५५।। सलोक, कबीर जीउ, वही, पृष्ठ १३६७

४०. शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्। भर्तृहरिकृत *नीतिशतकम्*, श्लोक ४४

४१. अठसठि तीरथ जह साध पग धरहि।। तह बैकुंठु जह नामु उचरहि।।
रामकली, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ८९०

४२. गंगा जमुना गोदावरी सरसुती, ते करहि उदमु धूरि साधू की ताई।।
किलविख मैलु भरे परे हमरै विचि, हमरी मैलु साधू की धूरि गवाई।। १।।
मलार, महला ४, वही, पृष्ठ १२६३

४३. एहु सरीरु सरवरु है संतहु इसनानु करे लिव लाई।। १३।।
नामि इसनानु करहि से जन निरमल सबदे मैलु गवाई।। १४।।
रामकली, महला ३, वही, पृष्ठ ९०९

४४. इहु मनु कासी सभि तीरथ सिम्रिति सतिगुर दीआ बुझाइ।।
अठसठि तीरथ तिसु संगि रहहि जिन हरि हिरदै रहिआ समाइ।। ४।।
गूजरी, महला ३, वही, पृष्ठ ४९१

प्रभ के चरन मन माहि धिआनु।। सगल तीरथ मजन इसनानु।। १।।
हरि दिनु हरि सिमरनु मेरे भाई।। कोटि जनम की मलु लहि जाई।। १।।
गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ १९५

४५. कत जाइऐ रे घर लागो रंगु।। मेरा चितु न चलै मनु भइओ पंगु।। १।। ....

ऊहां तउ जाइऐ जउ ईहां न होइ।। २।। बंसंत, रामानंद जी, वही, पृष्ठ ११९५

४६. सचु तां परु जाणीऐ जा आतम तीरथि करे निवासु।।
सतिगुरू नो पुछि कै बहि रहै करे निवासु।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४६८

माघि पुनीत भई तीरथु अंतरि जानिआ।।
साजन सहजि मिले गुण गहि अंकि समानिआ।।
तुखारी, महला १, बारहमाहा, वही, पृष्ठ ११०९

सुणिआ मंनिआ मनि कीता भाउ।। अंतरगति तीरथि मलि नाउ।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ४

४७. तीरथ उदमु सतिगुरू कीआ सभ लोक उधरण अरथा।।
मारगि पंथि चले गुर सतिगुर संगि सिखा ।। २।। तुखारी, महला ४, वही, पृष्ठ १११६

४८. नावणु पुरबु अभीचु गुर सतिगुर दरसु भइआ।।
दुरमति मैलु हरी अगिआनु अंधेरु गइआ।।
गुर दरसु पाइआ अगिआनु गवाइआ अंतरि जोति प्रगासी।।
जनम मरण दुख खिन महि बिनसे हरि पाइआ प्रभु अबिनासी।।
तुखारी, महला ४, वही, पृष्ठ १११६

परिशिष्ट-४

कर्म-सिद्धान्त

कर्म को सर्व-प्रधान मानने वाला सिद्धान्त अथवा यह मत कि जीव को अपने किये हुए सभी मानसिक एवं शारीरिक कर्मों का फल अवश्य भुगतना पड़ता है, कर्म-सिद्धान्त या कर्मवाद कहलाता है। इस सिद्धांत के अनुसार, अपने किये हुए कर्मों का फल भुगतने के लिए जीव को फिर से जन्म लेना पड़ता है। पुनः जन्म लेकर जीव और नए कर्म करता है जिन का फल भुगतने के लिए उसे और जन्म लेना पड़ता है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप जीव बार-बार जन्म लेता रहता है। स्पष्ट है कि पुनर्जन्म अथवा आवागमन के साथ कर्म-सिद्धान्त का बहुत गहरा सम्बन्ध है। जो धर्म और दर्शन-शास्त्र आत्मा को अमर मानते हैं, वे इस सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते।[१] कर्म-सिद्धान्त भारतीय धर्मों का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और कर्म-योग की आधारशिला है। भारत की लगभग सभी दर्शन-प्रणालियों में इस सिद्धान्त पर विचार किया गया है। गुरुमत अथवा गुरुवाणी में भी इसे कुछ परिवर्तित और संशोधित रूप में स्वीकार किया गया है।

गुरुवाणी में 'करम' शब्द दो स्रोतों से आया है— अरबी और संस्कृत। अरबी स्रोत से आये 'करम' शब्द का अर्थ है, दया, कृपा, मेहरबानी, दानशीलता, बख़्शिश[२]। संस्कृत में इसका रूप 'कर्मन्' है जो 'कृ' धातु के साथ 'मनिन्' प्रत्यय लगने से बना है।[३] 'कृ' धातु का अर्थ है 'करना'। अतः संस्कृत स्रोत से आये 'करम' का शाब्दिक अर्थ है, 'जो कुछ किया जाये', 'काम', 'कार्य', 'करनी' आदि। इस प्रकार प्राणी जो कुछ करता है वह सब 'कर्म' है।

'कर्म' तीन प्रकार के माने गये हैं— 'संचित', 'प्रारब्ध' और 'क्रियमाण'। जीव ने जो कर्म, इस जन्म में अथवा पूर्व जन्मों में किये हैं, वे उसके 'संचित कर्म' कहे जाते हैं; जिन, पहले किये हुए, कर्मों का फल जीव अब भोग रहा है या भोगने जा रहा है वे उसके 'प्रारब्ध कर्म' कहलाते हैं और जीव द्वारा जो कर्म वर्तमान में किये जा रहे हैं उन्हें 'क्रियमाण कर्म' कहा जाता है।[४] स्पष्ट है कि क्रियमाण कर्म, संचित कर्म बनते जाते हैं और संचित कर्म प्रारब्ध। इस तरह कर्म शब्द का एक अर्थ 'किये हुए कर्मों का फल' अथवा 'भाग्य' या 'किस्मत' है जिसे 'प्रारब्ध' भी कहा जाता है। यही कारण है कि 'बदकिस्मत' के लिए 'कर्महीन' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।

जिस सृजनहार ने यह लीला रूपी सृष्टि रची है, उसने शरीर बनाते अथवा देते समय जीव के साथ ही इसमें अहंकार, अर्थात् अपनी अलग सत्ता का बोध, भी टिका दिया है।[५] संसार के हरेक जीव को कोई न कोई रोग लगा हुआ है।[६] परमात्मा ने मनुष्य को अहंकार रूपी दीर्घ रोग दे रखा है।[७] यह अहं-भाव जीव और परमात्मा के बीच एक दीवार या पर्दा बनकर उसे परमात्मा का साक्षात्कार नहीं करने देता।[८] इस अहं-भाव के कारण जीव कर्त्ता बनकर कर्म करने में उलझा रहता है। फलत: उसकी अपनी अलग सत्ता कायम रहती है । इस तरह कर्त्ता अथवा अहम्-भाव से किये गये कर्मों के कारण जीव बार-बार विभिन्न जोनियों में जन्म लेते रहते हैं; जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।[९]

अपने जीवन-काल में मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उन सब की छाप उसके अन्दर अंकित होती जाती है।[१०] आयु की अवधि समाप्त हो जाने पर जब वह शरीर त्याग कर यहाँ से चला जाता है तो उस द्वारा किये कर्मों का पल-पल का हिसाब उससे मांगा जाता है।[११] जीव के हरेक कर्म पर प्रभु के दरबार में विचार की जाती है और उसका निबटारा किया जाता है। इस प्रक्रिया में किसी प्रकार की त्रुटि होना संभव नहीं है क्योंकि वहाँ का न्यायाधीश, परमात्मा आप परम सत्य है और उसका दरबार अथवा न्यायालय भी सच्चा है[१२]। कुछ लोग काम तो बुरे करते हैं परन्तु लोगों के सामने अपने आप को भले मानस बनकर दिखाते हैं। परन्तु ऐसे लोग प्रभु-परमात्मा को धोखा देने में सफल नहीं हो सकते क्योंकि प्रभु आप हरेक जीव के अन्दर बैठा उसके, प्रत्यक्ष और परोक्ष, सभी प्रकार के कर्मों को देख रहा है। अत: सभी जीव रंगे हाथों पकड़े जाने वाले चोर की तरह बांध लिये जाते हैं।[१३] इस तरह जीव द्वारा किये कर्म उसके साथ जाते हैं और प्रभु के दरबार में स्वयं गवाह बनते हैं।[१४]

गुरुवाणी में शरीर को ऐसी धरती कहा गया है जिसमें जीव कर्म रूपी बीज बोता है। जिस तरह के बीज कोई बोता है, उसी तरह के फल वह खाता है।[१५] अत: जैसा कोई कर्म करता है, वैसा ही फल पा लेता है। इसलिए अपने द्वारा किये गये कर्मों के कारण मिलने वाले दु:ख-क्लेश आदि के लिए अन्य लोगों को दोष नहीं दिया जा सकता।[१६] इसके लिए बिलखने या परमात्मा को बुरा-भला कहना भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि पाप और पुण्य आदि जीव के अपने ही किये हुए कर्म हैं, जिनका फल उसे भुगतना पड़ रहा है।[१७] अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल हर जीव को आप ही भुगतना पड़ता है।[१८] दैवी विधान इतना न्यायपूर्ण और त्रुटि-रहित है कि किसी एक व्यक्ति द्वारा किये कर्मों के लिए किसी अन्य व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जाता[१९] और न ही कोई व्यक्ति कीकर बोकर अंगूर प्राप्त कर सकता है।[२०]

कारण-कार्य-सिद्धान्त (Law of cause and effect) भौतिक जगत का बहुत पुराना और प्रसिद्ध सिद्धान्त है। ''परन्तु इसे मानने वाले विद्वान् एक भ्रम में पड़ जाते हैं। उन्हें यह याद नहीं रहता कि कारण और कार्य के सम्बन्ध को देखना चेतन मन का खेल है। जिस वस्तु में चेतनता नहीं उसके लिए कारण और कार्य की शृंखला कहाँ? चेतन सत्ता में ही यह शक्ति है कि जिस कार्य को करना हो उसका कारण भी उपलब्ध कर ले। घड़ा बनाने वाला कुम्हार मिट्टी लाकर, घड़े का रूप सोचकर, चाक चलाकर, अपने शरीर का ज़ोर लगाकर घड़ा बना सकता है। यदि कुम्हार घड़े के बारे में न सोचे तो चाहे मनों मिट्टी पड़ी रहे और वह भी पास बैठा रहे, घड़ा तैयार नहीं हो सकता। कारण और कार्य का सम्बन्ध इसलिए चेतन सत्ता के माध्यम से है। इस सिद्धान्त को गुरुमत में इस प्रकार दर्शाया गया है—

करण कारण समरथु है कहु नानक बीचारि।
कारणु करते वसि है जिनि कल रखी धारि।।

सलोक सहसक्रिती, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १३५३

कर्मों का सिद्धान्त कारण-कार्य के सिद्धान्त का ही एक रूप है। गुरुमत में माना गया है कि कर्म अपने आपमें फल पैदा करने में समर्थ नहीं। निरंकार का हुक्म कर्मों का फल-प्रदाता है। मनुष्यों के कर्मों और उनके फलों के बीच चेतन सत्ता, जो सर्वव्यापक है, का हाथ है। यदि कभी यह माना जाता कि कर्मों का फल स्वत: ही मिल जाता है तो लेखा माँगने आदि के विचार का क्या अर्थ हुआ? जैसे किसी बुरे काम करने वाले को उसके किये का दंड देने के लिए हाकिम की ज़रुरत है, इसी तरह सर्वव्यापक हुक्म कर्म का फल-प्रदाता माना है।

हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाईअहि।।''[२१]

इस प्रकार, गुरुवाणी में 'कर्म' को 'हुक्म' के अधीन माना गया है। कर्त्ता पुरुष, वाहिगुरु 'कर्म' सहित सभी को अपने हुक्म में चलाता है। इसके हुक्म की सीमा के बाहर कुछ भी नहीं है।[२२] परन्तु प्रभु का हुक्म अन्धाधुन्ध नहीं चलता, जीवों के कर्मों को देखकर, उन पर विचार करके चलता है।[२३]

जैसा की पहले भी कहा गया है, जीवों द्वारा किये कर्मों के फल (अर्थात् भाग्य या प्रारब्ध) को भी 'कर्म' कहा जाता है। अत: कर्मों अथवा प्रारब्ध के बिना किसी को कुछ प्राप्त नहीं होता।[२४] भाग्य को विधाता द्वारा जीव के मस्तक पर लिखे लेख के रूप में स्वीकार किया गया है।[२५] इसलिए परमात्मा के हुक्म के अनुसार जीव के मस्तक पर जैसी लेखनी चलती है, संसार में आते समय उसके पास वही आरंभिक पूँजी होती है।[२६]

दैवी हुक्म द्वारा लिखे को मिटाया नहीं जा सकता, वह जीव को अवश्य भोगना ही पड़ता है।[२७]

पाप आदि के फल से छुटकारा पाने, पुण्य कमाने अथवा कर्म-जाल से मुक्त होने के लिए लोग अनेक प्रकार के बाह्याचारों अथवा दिखावे के धार्मिक कर्म-काण्डों में उलझे रहते हैं। गुरुवाणी में ऐसे कर्मों को पाखण्ड कहा गया है।[२८] बहुत-से लोग तो ऐसे कर्म दूसरों की देखा-देखी ही करने लग जाते हैं और इस तरह ठीक जीवन-युक्ति समझे बिना अपना बहुमूल्य जीवन गँवा देते हैं।[२९] कर्म-कांड में ग्रस्त लोग मानव-जीवन के वास्तविक लक्ष्यों को भूलकर कर्म-काण्ड को ही अपना लक्ष्य समझ बैठते हैं। गुरुवाणी में कर्म-काण्ड की भरपूर आलोचना की गयी है और नाम-सुमिरन के मुकाबले में सब प्रकार के कर्मों को व्यर्थ बताया गया है।[३०] कर्म-काण्ड अहंकार को बढ़ावा देता है। अहंकार किसी काम नहीं आता।[३१] परन्तु नाम-सुमिरन व्यक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने अर्थात् अपने वास्तविक घर में पहुँचकर प्रभु से मिलने में सहायक होता है। याद रखना चाहिए कि जीवन-यात्रा उसी की सफल होती है जिसकी प्रीति अपने प्रभु के साथ बनी रहती है।[३२] शेख़ फ़रीद जी चेतावनी देते हुए फ़रमाते हैं कि ऐसे कर्मों को त्याग दो जिनके करने से तुम्हारी आत्मा को कोई लाभ नहीं पहुँचता और प्रभु के दरबार में शर्मिंदा होना पड़ता है।[३३] ऐसा काम कदाचित नहीं करना चाहिए जिसके करने से अन्त पछताना पड़े।[३४]

गुरुवाणी में आत्मिक जीवन के विकास में सहायता करनेवाले, आध्यात्मिक कर्म निरन्तर करते रहने का उपदेश दिया गया है। शब्द, अथवा गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान, को अपने मन में बसाये रखना चाहिए। परमात्मा की ज्योति को सब जगह व्याप्त जानकर अपनी जीभ और मन को प्रभु के नाम अथवा प्रभु की याद में डुबोये रखना चाहिए। इस तरह अपने आपको परमात्मा के साथ जोड़े रखकर कोई भी व्यक्ति आत्मिक आनन्द की रसीली वंशी बजा सकता है; आत्मिक आनन्द में सराबोर रह सकता है।[३५] नाम-सुमिरन में सभी धार्मिक कर्म आ जाते हैं। नाम के प्रभाव से सभी पापों और विकारों की मैल धुल जाती है। नाम-सुमिरन ही सभी प्रकार के धार्मिक कर्म और तत्त्व-ज्ञान है। अत: मनुष्य के लिए परमात्मा का नाम ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है और यही निर्मल कर्म भी है।[३६]

इस संबंध में एक और विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्म-फल को गुरुमत, अथवा सिख दर्शन में स्वीकार तो किया गया है परन्तु इसे अपरिहार्य, अटल अथवा अटूट नहीं माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीव कर्म-बद्ध है। परन्तु जो लोग जीव को कर्म-बद्ध मानते हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि जीव को कर्मों के

हवाले उसी परम सत्ता, परमेश्वर ने ही किया है?[३७] इस सन्दर्भ में सोचने वाली बात यह भी है कि जब संसार की रचना नहीं हुई थी, और जब जीव की कोई सत्ता ही नहीं थी, उस समय जीव से पाप या पुण्य कैसे हो सकता था?[३८] उस समय जीव कौन-से कर्म करता था? कौन-से कर्म करने के कारण जीव को जन्म लेकर संसार में आना पड़ा?

वास्तव में कर्त्ता पुरुष वाहिगुरु ने सारी सृष्टि की रचना की है और इस खेल की रचना करके वह आप ही इसकी देखभाल कर रहा है।[३९] सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक परमात्मा सृष्टि का कर्त्ता है और जीवात्मा उसी का अंश है।[४०] उसी प्रभु ने कर्मों को बनाया है। अतः कर्म अनादि नहीं हैं। कर्मों का अन्त सम्भव है और कर्म-जाल को तोड़ा जा सकता है। भक्त सधना जी परमात्मा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, हे जगद्गुरु प्रभु! यदि मेरे पिछले कर्मों का नाश न हुआ तो आपकी शरण में आने का क्या लाभ? शेर की शरण में जाने का क्या लाभ यदि वहाँ भी गीदड़ खा जाये?[४१] कर्मों की अपनी कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। कर्म अथवा कर्म-सिद्धान्त परमात्मा के हुक्म अथवा दैवी विधान के अधीन है। दैवी विधान और उसके अधीन काम करने वाले सभी नियमों का मूल स्रोत प्रभु परमात्मा की नदर, दया, कृपा, प्रसाद अथवा अनुग्रह है।[४२] इस तरह प्रभु की कृपा-दृष्टि अथवा नदर सभी अन्य नियमों से ऊपर है और जीव को कर्मों के फल या कर्म-चक्कर से मुक्त कर सकती है।[४३]

जब परमात्मा अपनी कृपा करता है तो किसी व्यक्ति के मन में 'नाम' के प्रति प्यार जाग्रत हो जाता है और वह नाम को अपने हृदय में संभाल लेता है।[४४] इस प्रकार जिन मनुष्यों पर गुरु परमेश्वर उपकार कर देता है वे अपने अनेक जन्मों के किये कर्मों की कैद से छूट जाते हैं और संसार सागर में डूबने से बच कर किनारे पहुँच जाते हैं।[४५] यह प्रक्रिया बिल्कुल उसी तरह है जैसे कोई व्यक्ति लकड़ियाँ ला लाकर एक बड़ा ढेर इकट्ठा कर ले और फिर उस लकड़ियों के ढ़ेर को थोड़ी-सी आग लगाकर पल भर में राख कर दे। परमात्मा से टूटे हुए जो लोग बड़े-बड़े पाप करते हैं वे भी सद्गुरु की सहायता से प्रभु के नाम की लूकी या लुआटी लेकर उन पापों को भस्म कर सकते हैं।[४६]

संदर्भ और टिप्पणियाँ

१. उमेश मिश्र, *भारतीय दर्शन,* चतुर्थ संस्करण (लखनऊ, उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति, १९७५) पृष्ठ १२८

२. मुहम्मद मुस्तफ़ा खाँ 'मद्दाह', *उर्दू हिन्दी शब्दकोश,* नवम् संस्करण (लखनऊ, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, २००९) पृष्ठ १०३

३. वामन शिवराम आप्टे, *संस्कृत-हिन्दी कोश,* द्वितीय संस्करण (दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., पुनर्मुद्रण १९९७) पृष्ठ २५३

४. धीरेन्द्र वर्मा-प्रधान संपादक, *हिन्दी साहित्य कोश,* तृतीय संस्करण, भाग १ (वाराणसी, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, १९८५) पृष्ठ १७१

५. जिनि रचि रचिआ पुरखि बिधातै नाले हउमै पाई।।
जनम मरणु उस ही कउ है रे ओहा आवै जाई।। ३।।
मारू, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ९९९

तुधु जग महि खेलु रचाइआ विचि हउमै पाईआ ।। मारू वार, महला ५, वही, पृष्ठ १०९६

६. जो जो दीसै सो सो रोगी ।।
रोग रहित मेरा सतिगुरु जोगी।। १।। रहाउ।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११४०

७. हउमै रोगु मानुख कउ दीना।। काम रोगि मैगलु बसि लीना।। भैरउ, महला ५, वही, पृष्ठ ११४०

हउमै दीरघ रोगु है दारू भी इसु माहि।।
किरपा करे जे आपणी ता गुर का सबदु कमाहि।। सलोकु, महला २, वही, पृष्ठ ४६६

८. अंतरि अलखु न जाई लखिआ विचि पड़दा हउमै पाई।।
गउड़ी पूरबी, महला ५, वही, पृष्ठ २०५

हउ हउ भीति भइओ है बीचो सुनत देसि निकटाइओ।।
भांभीरी के पात परदो, बिनु पेखे दूराइओ।। सोरठि, महला ५, वही, पृष्ठ ६२४

९. जब इह जानै मै किछु करता।। तब लगु गरभ जोनि महि फिरता।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २७८

हउ हउ करम कमाणे।। ते ते बंध गलाणे।।
मेरी मेरी धारी।। ओहा पैरि लोहारी।। मारू महला ५, वही, पृष्ठ १००४

१०. करि करि करणा लिखि लै जाहु।। आपे बीजि आपे ही खाहु।। जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ४

११. घड़ी मुहत का लेखा लेवै रतीअहु मासा तोल कढावणिआ।। माझ, महला ३, वही, पृष्ठ १२७
घड़ी चसे का लेखा लीजै, बुरा भला सहु जीआ।। तुखारी, महला १, वही, पृष्ठ १११०

१२. करमी करमी होइ वीचारु ।।सचा आपि सचा दरबारु।। जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ७

१३. करै दुहकरम दिखावै होरु।। राम की दरगह बाधा चोरु ।। १।।
गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ १९४

१४. इकना नो सभ सोझी आई, इकि फिरदे बेपरवाहा।।
अमल जि कीतिआ दुनी विचि से दरगह ओगाहा।। ९८।।
सलोक सेख फरीद के, वही, पृष्ठ १३८३

नानक कमाणा संगि जुलिआ नह जाइ किरतु मिटाइआ।। १।। आसा, महला ५, वही, पृष्ठ ४६०

१५. करम धरती सरीरु जुग अंतरि जो बोवै सो खाति।।
कहु नानक भगत सोहहि दरवारे मनमुख सदा भवाति।।
सिरीरागु, महला १, पहरे, वही, पृष्ठ ७८

१६. ददै दोसु न देऊ किसै दोसु करंमा आपणिआ।।
जो मै कीआ सो मै पाइआ दोसु न दीजै अवर जना।। २१।।
रागु आसा, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ४३३

दोसु न दीजै काहू लोग।। जो कमावनु सोई भोग।। रामकली, महला ५, वही, पृष्ठ ८८८

१७. मन मूरख काहे बिललाईऐ।।
पुरब लिखे का लिखिआ पाईऐ।। गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पृष्ठ २८२–८३

नाराइण निंदसि काइ भूली गवारी।।
दुक्रितु सुक्रितु थारो करमु री।। धनासरी, त्रिलोचन, वही, पृष्ठ ६९५

१८. कपड़ु रूपु सुहावणा, छडि दुनीआ अंदरि जावणा।।
मंदा चंगा आपणा आपे ही कीता पावणा।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४७०

जैसा करे सु तैसा पावै।। आपि बीजि आपे ही खावै।। धनासरी, महला १, वही, पृष्ठ ६६२

१९. अहि करु करे सु अहि करु पाए कोई न पकड़ीऐ किसै थाइ।।आसा, महला ५, वही, पृष्ठ ४०६
हरि का एकु अचंभउ देखिआ मेरे लाल जीउ जो करे सु धरम निआए राम।।
बिहागड़ा, महला ५, वही, पृष्ठ ५४१

२०. फरीदा लोड़ै, दाख बिजउरीआं किकरि बीजै जटु।।
हंढै उंन कताइदा, पैधा लोड़ै, पटु।। २३।। सलोक सेख फरीद के, वही, पृष्ठ १३७९

इस विषय पर हिन्दी की एक कहावत भी है— बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से होय?

२१. भाई जोध सिंघ, *गुरमति निरणय,* द्वितीय संशोधित संस्करण (अमृतसर, भाई चतर सिंघ जीवन सिंघ, २००३) पृष्ठ २१०–११

२२. हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ।। जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ १

हुकमु साजि हुकमै विचि रखै हुकमै अंदरि वेखै।।
नानक अगहु हउमै तुटै तां को लिखीऐ लेखै।। १।। सलोकु, महला २, वही, पृष्ठ १२४३

२३. हुकमि चलाए आपणै करमी वहै कलाम।।
नानक सचा सचि नाइ सचु सभा दीबानु।। २।। सलोकु, महला १, वही, पृष्ठ १२४१

२४. नानक विणु करमा किआ पाईऐ, पूरबि लिखिआ कमाइ। सलोकु, महला ३, वही, पृष्ठ ६४५

जेती सिरठि उपाई वेखा, विणु करमा कि मिलै लई।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ २

विणु करमा किछु पाईऐ नाही जे बहुतेरा धावै। तिलंग, महला १, वही, पृष्ठ ७२२

२५. हाथि कलंम अगंम मसतकि लेखावती।। फुनहे, महला ५, वही, पृष्ठ १३६१

२६. जैसी कलम वुड़ी है मसतकि तैसी जीअड़े पासि।। सिरीरागु, महला १, पहरे, वही, पृष्ठ ७४

जेहा बीजै सो लुणै मथै जो लिखिआसु।। मांझ, महला ५, वही, पृष्ठ, १३४

२७. लेखु न मिटई पुरबि कमाइआ किआ जाणा किआ होसी।।
धनासरी, महला १, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, ६८९
बाबा नांगड़ा आइआ जग महि दुखु सुखु लेखु लिखाइआ।।
लिखिअड़ा साहा ना टलै जेहड़ा पुरबि कमाइया।। वडहंसु, महला १ वही, पृष्ठ, ५८२

२८. करम धरम पाखंड जो दीसहि तिन जमु जागाती लूटै।।
निरबाण कीरतनु गावहु करते का निमख सिमरत जितु छूटै।। १।।
सूही, महला ५, वही, पृष्ठ ७४७

२९. भाई रे गुरमुखि बूझै कोइ।।
बिनु बूझे करम कमावणे, जनमु पदारथु खोइ।। १।। रहाउ।। सिरीरागु, महला ३, वही, ३३
कबीर ठाकुरु पूजहि मोलि ले मनहठि तीरथ जाहि।।
देखा देखी स्वांगु धरि भूले भटका खाहि।। १३५।। सलोक कबीर, वही, पृष्ठ १३७१

३०. हरि बिनु अवर क्रिआ बिरथे।। जप तप संजम करम कमाणे इहि ओरै मूसे।।
गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ २१६
पड़ि पुसतक संधिआ बादं।। सिल पूजसि बगुल समाधं।।
मुखि झूठ बिखूण सारं।। त्रैपाल तिहाल बिचारं।।
गलि माला तिलकु लिलाटं।। दुइ धोती बसत्र कपाटं।।
जे जाणसि ब्रहमं करमं।। सभि फोकट निसचउ करमं।। वार आसा, महला १, वही, पृष्ठ ४७०

३१. राम नाम गुण गाइ पंडित।।
करम कांड अहंकारु न काजै कुसल सेती घरि जाहि पंडित।। १।। रहाउ।।
रामकली, महला ५, वही, पृष्ठ ८९१
करम कांड बहु करहि अचार।। बिनु नावै ध्रिगु ध्रिगु अहंकार।। ३।।
गउड़ी गुआरेरी, महला ३, वही, पृष्ठ १६२

३२. ता की पूरन होई घाल।। जा की प्रीति अपुने प्रभ नालि।। ३।।
गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ १९९

३३. फरीदा जिन्ही कंमी नाहि गुण ते कंमड़े विसारि।।
मतु सरमिंदा थीवही सांई दै दरबारि ।।५९।। सलोक सेख फरीद, वही, पृष्ठ १३८१

३४. साथि तेरै चलै नाही तिसु नालि किउ चितु लाईऐ।।
ऐसा कंमु मूले न कीचै जितु अंति पछोताईऐ।। रामकली, महला ३, वही, पृष्ठ ९१८

३५. अधिआतम करम करे ता साचा।।
मुकति भेदु किआ जाणै काचा।। १।। गउड़ी, महला १, वही, पृष्ठ २२३
अधिआतम करम करे दिनु राती।। निरमल जोति निरंतरि जाती।।
सबदु रसालु रसन रसि रसना बेणु रसालु वजाइआ।। ९।। मारू, महला १, वही, पृष्ठ १०३९

३६. सरब धरम महि स्रेसट धरमु।। हरि को नामु जपि निरमल करमु।।
गउड़ी, सुखमनी, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २६६

करम धरम इहु ततु गिआनु।। साध संगि जपीऐ हरि नामु ।। गोंड, महला ५, वही, पृष्ठ ८६६

करम धरम नेम ब्रत पूजा।। पारब्रहम बिनु जानु न दूजा।। २।। गउड़ी, महला ५, वही, पृष्ठ १९९

३७. करम बध तुम जीउ कहत हौ करमहि किनि जीउ दीनु रे।। २।गोंड, कबीर जी, वही, पृष्ठ ८७०

३८. जब अकारु इहु कछु न द्रिसटेता।। पाप पुंन तब कह ते होता।।
गउड़ी सुखमनी, महला ५, वही, पुष्ठ २९०

३९. जब कछु न सीओ तब किआ करता, कवन करम करि आइआ।।
अपना खेलु आपि करि देखै, ठाकुरि रचनु रचाइआ।। १।। सूही, महला ५, वही, पृष्ठ ७४८

४०. कहु कबीर इहु राम की अंसु।। जस कागद पर मिटै न मंसु।।
गोंड, कबीर जी, वही, पृष्ठ ८७१

४१. तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।।
सिंघ सरन कत जाईऐ जउ जंबुकु ग्रासै।। १।। रहाउ।। बिलावलु, सधना, वही, पुष्ठ ८५८

४२. धौलु धरमु दइआ का पूतु। संतोखु थापि रखिआ जिनि सूति।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ३

४३. जिन कंउ क्रिपा करी मेरै ठाकुरि तिन का लेखा न गणिआ।।
कहु नानक तिसु घोलि घुमाई जिनि प्रभु स्रवणी सुणिआ।। १।।
वडहंसु, महला ५, वही, पृष्ठ ५७७

४४. हरि जीउ आपणी क्रिपा करे ता लागै नाम पिआरु।।
नानक नामु समालि तू गुर कै हेति अपारि।। सिरीरागु, महला ३, वही, पृष्ठ ३४

४५. चूका भारा करम का होए निहकरमा।। सागर ते कंढै चड़े गुरि कीने धरमा।।
मारू, महला ५, वही, पृष्ठ १००२

४६. आनि आनि समधा बहु कीनी पलु बैंसतर भसम करीजै।।
महा उग्र पाप साकत नर कीने मिलि साधू लूकी दीजै।। ४।।
कलिआन, महला ४, वही, पृष्ठ १३२४

लोका मत को फकड़ि पाइ।।
लख मड़िआ करि एकठे एक रती ले भाहि।। १।। रहाउ।। आसा, महला १, वही, पृष्ठ ३५८

परिशिष्ट-५

चित्र-गुप्त

हिन्दू पुराण-साहित्य (अथवा हिन्दू पौराणिकी Hindu mythology) के अनुसार 'चित्रगुप्त' यमराज का मुंशी या लेखाकार है। हरेक व्यक्ति द्वारा किये गये अच्छे और बुरे कर्मों का बिल्कुल ठीक लेखा-जोखा अपनी बही, जिसे अग्र-सन्धानी कहते हैं, में रखना उसकी जिम्मेदारी है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी आत्मा को यमदूत सीधे यमराज के पास, उसकी कचहरी में लेकर जाते हैं। वहाँ चित्रगुप्त, अपनी बही में लिखा, उस व्यक्ति द्वारा किये गये पाप कर्मों और पुण्य-कर्मों का विवरण प्रस्तुत करता है। इस विवरण पर विचार करके, संबंधित व्यक्ति द्वारा किये गये पाप-पुण्यों के बकाये के अनुसार, यमराज उसकी आत्मा को स्वर्ग, नरक अथवा किसी अन्य योनि में तुरन्त जन्म लेने के लिए पृथ्वी पर भेजने का निर्णय देता है।[१] चित्रगुप्त, कायस्थों का उपास्य देवता माना जाता है। लोगों का यह भी मानना है कि 'चित्र' और 'गुप्त' नाम के ऐसे दो देवता हैं।

आम लोगों की इस मान्यता की ओर इशारा करते हुए गुरुवाणी में कहा गया है कि यम के दूत बड़े डरावने हैं और चित्रगुप्त मनुष्यों के कर्मों का लेखा-जोखा जानते हैं।[२] चित्रगुप्त मनुष्यों के कर्मों का लेखा लिखते हैं। परन्तु गुरुवाणी के अनुसार, वे परमात्मा के भक्तों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते।[३] जो व्यक्ति प्रभु परमात्मा के नाम का सुमिरन करता है, अर्थात् सदा परमात्मा की हुज़ूरी में जीवन व्यतीत करता है, उसके कर्मों का ब्यौरा अथवा चिट्ठा यमराज की कचहरी में फाड़ दिया जाता है; ऐसे व्यक्ति पर यमदूतों का कोई वश नहीं चलता।[४] इसका भाव यह है कि नाम-सुमिरन के फलस्वरूप व्यक्ति द्वारा किये गये सभी कर्मों का हिसाब-किताब समाप्त हो जाता है। वास्तव में सारी सृष्टि परमात्मा के हुक्म में है। इस लिहाज़ से, यमराज भी परमात्मा की रैयत अथवा प्रजा है। यमराज बेचारा परमात्मा के हुक्म के बिना कुछ कर ही नहीं सकता। वह परमात्मा के हुक्म के अनुसार ही काम करता है; लोगों की जान भी वाहिगुरु के हुक्म के अनुसार ही निकालता है।[५] जिस चित्रगुप्त का सहम या भय हरेक व्यक्ति को लगा रहता है उसके बारे में भक्त नामदेव का कहना है कि वह तो परमात्मा के घर में एक मुनीम की हैसियत रखता है और धर्मराज अथवा यमराज उस प्रभु के महल का एक मामूली दरबान है।[६] इसलिए यमराज, यमदूतों और चित्रगुप्त आदि से डरने या उनकी पूजा-अर्चना करने की कोई ज़रूरत नहीं है। गुरुवाणी गुरु जी का आदेश है कि जिस प्रभु, परमात्मा ने यमराज को पैदा किया है उस प्रभु की सेवा ही करनी चाहिए; केवल एक

परमात्मा का ही सुमिरन करना चाहिए। नाम-सुमिरन करने वाले, गुरुमुख व्यक्ति को कोई दु:ख नहीं होता। क्योंकि उसके मन में परमात्मा निवास करता है इसलिए यमराज भी उसकी सेवा करता है; यमदूत भी गुरसिख के निकट नहीं आता[८]।

श्री गुरु नानक साहिब का कथन है कि मनुष्य जो कुछ भी करता है उसकी छाप (impression) उसके मन में अंकित हो जाती है। इस प्रकार सारे जीवन में किये अच्छे-बुरे कर्मों के संस्कार हर जीव अपने मानस-पटल पर अथवा चित्त में, अज्ञात रूप से, लिख लेता है। किये हुए कर्मों का यह लेखा-जोखा मरते समय जीव अपने साथ ले जाता है। हरेक जीव कर्मों के रूप में जो कुछ बोता है उसका फल वह स्वयं ही भोगता है। परमात्मा के हुक्म अथवा विधान के अनुसार, अपने कर्मों के फल भुगतने के लिए जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेते रहते हैं।[९] इसीलिए भक्त कबीर जी ने मनुष्य के शरीर में स्थित, उसके चित्त को ही चित्रगुप्त माना है।[१०]

'चित्रगुप्त' समस्त-पद का भावार्थ स्पष्ट करते हुए प्रो़फ़ेसर साहिब सिंघ जी लिखते हैं, "शब्द चित्रगुप्त का भाव है 'गुप्त चित्र', छिपे हुए चित्र, जो चित्र मनुष्य की दृष्टि से छिपे रहते हैं। चित्र— किये हुए कर्मों के संस्कार । मनुष्य जो कर्म करता है, उनके संस्कार उसके मन में बनते जाते हैं। शरीर त्यागने पर यह संस्कार-मय मन जीवात्मा के साथ जाता है।[११]" श्री सैलेन देबनाथ ने भी 'चित्रगुप्त' शब्द का तर्क-सम्मत अर्थ देते हुए लगभग ऐसी ही बात कही है।[१२]

यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि वास्तव में ही 'चित्रगुप्त', 'धर्मराज' 'यमदूत' आदि का कोई अस्तित्व नहीं है तो गुरुवाणी में अनेक स्थलों पर इनका वर्णन क्यों किया गया है?

इस प्रश्न का सीधा-सादा और सरल-सा उत्तर यह है कि गुरुवाणी में 'चित्रगुप्त', 'धर्मराज' आदि का ज़िक्र इसलिए किया गया है क्योंकि गुरु साहिबान ने जिस समाज में गुरुमत का प्रचार किया उस समाज में उस समय के प्रचलित विश्वासों, भाषा, वाक्-शैली और मुहावरे का प्रयोग करना ज़रूरी था ताकि गुरुमत का उपदेश आसानी से आम लोगों की समझ में आ सके।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

१. ई. ऑज़बर्न मार्टिन, *द गॉडज़ ऑव इण्डिया*, प्रथम भारतीय पुनर्मुद्रण, (देहली, इण्डॉलोजिकल बुक हाउस, १९७२) पृष्ठ ६०-६१

२. जमदूत महा भइआन॥
चित गुपत करमहि जान॥ बिलावलु, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ८३८

३. चित्र गुपतु सभ लिखते लेखा।।
भगत जना कउ द्रिसटि न पेखा।।४।। आसा, महला ५, श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ३९३

४. चित्र गुपत का कागदु फारिआ, जमदूता कछू न चली।।
नानकु सिख देइ मन प्रीतम, हरि लदे खेप सवली।।३।। सिरीरागु, महला ५, वही, पृष्ठ ७९
सिमरत नामु किलबिख सभि काटे।।
धरम राइ के कागर फाटे।। प्रभाती, महला ५, वही, पृष्ठ १३४८

५. हरि जीउ की है सभ सिरकारा।। एहु जमु किआ करे विचारा।।
हुकमी बंदा हुकमु कमावै, हुकमे कढदा साहा हे।।८।। मारू, महला ३, वही, पृष्ठ १०५४

६. पापु पुंनु जां चै डांगीआ दुआरै, चित्र गुपतु लेखीआ।।
धरमराइ परुली प्रतिहारु।। सो ऐसा राजा स्री गोपालु।।२।। मलार, नामदेव, वही, पृष्ठ १२९२

७. जिनि जमु कीता सो सेवीऐ, गुरमुखि दुखु न होइ।।
नानक गुरमुखि जमु सेवा करे, जिन मनि सचा होइ।।१।। सलोकु, महला ३, वही, पृष्ठ ५८८

८. दूखु न लागै कदे तुधु, पारब्रहमु चितारे।।
जंमकंकरु नेड़ि न आवई गुरसिख पिआरे।।१।। बिलावलु, महला ५, वही, पृष्ठ ८१८

९. पुंनी पापी आखणु नाहि।। करि करि करणा लिखि लै जाहु।।
आपे बीजि आपे ही खाहु।। नानक हुकमी आवहु जाहु।। श्री जपुजी साहिब, वही, पृष्ठ ४

१०. बाबा अब न बसउ इह गाउ।। घरी घरी का लेखा मागै काइथु चेतू नाउ।।
राग मारू, कबीर जी, वही, पृष्ठ ११०४

डॉ. पारसनाथ तिवारी ने 'काइथु चेतू' का आध्यात्मिक अर्थ 'काया में स्थित (काय+स्थ) चित्त' किया है। देखिये, *कबीर वाणी संग्रह,* १४वाँ, संशोधित संस्करण (इलाहाबाद, राका प्रकाशन, २००५) पृष्ठ १८७

११. *श्री गुरू ग्रंथ साहिब दर्पण,* पोथी पहली, (जालन्धर, राज पब्लिशर्ज़, १९७२), पृष्ठ ५१३

१२. "The meaning of Chitragupta himself guides us to the overall understanding of the god-witness for justice. Chitragupta is a combination of two words- *Chitra* and *Gupta*. *Chitra* means image and Gupta means hidden or concealed. Thus, Chitragupta means concealed images. Judgment is given on the basis of these concealed images. But one needs to explore what the concealed images are, how they are formed, where they are concealed and how valuable and dependable are they for judgment. These images are memories, concealed in the brain. They are dependable because they form the archive of all activities and thoughts of the individual whose conscious soul is being subjected to judgment. In death, the body comes to an end but as the conscious soul is deathless and is reborn, it retains all the memories of previous life until it is reborn in a new form. In fact, this automatic selection of the new body for rebirth is the judgment, for the rebirth of the soul takes place on the basis of the achievements of the soul in the previous life."

The Meanings of Hindu Gods, Goddesses and Myths (New Delhi, Rupa and Co, 2009) 168-69.

परिशिष्ट -६

श्री जपुजी साहिब की सत्ताइसवीं पउड़ी, श्री गुरु ग्रंथ साहिब में दो और जगह— पृष्ठ ८ पर 'सो दरु' में और पृष्ठ ३४७ पर आसा राग के प्रथम सबद के रूप में— भी अंकित है। इसके इन तीनों रूपों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है।

देखने में आता है कि 'श्री जपुजी साहिब' और 'सो दरु' का पाठ करते समय बहुत-से सज्जन इस सबद के इन दोनों रूपों की पंक्तियों को आपस में प्रतिस्थापित करके एक-दूसरी की जगह उच्चारण कर जाते हैं। यहाँ इस सबद के इन दोनों रूपों को आमने-सामने दिया जा रहा है और इनके पारस्परिक अन्तर को दर्शाने के लिए सम्बन्धित शब्दों को मोटा कर दिया गया है ताकि पाठ करते समय निर्दिष्ट अन्तर को ध्यान में रखा जा सके।

'श्री जपुजी साहिब' में	**'सो दरु' में**
सो दरु केहा, सो घरु केहा,	सो दरु **तेरा** केहा, सो घरु केहा,
जितु बहि सरब समाले।।	जितु बहि सरब समाले।।
वाजे नाद अनेक असंखा,	वाजे **तेरे** नाद अनेक असंखा,
केते वावणहारे।।	केते **तेरे** वावणहारे।।
केते राग, परी सिउ **कहीअनि**,	केते **तेरे** राग, परी सिउ **कहीअहि,**
केते गावणहारे।।	केते **तेरे** गावणहारे।।
गावहि तुहनो, पउणु पाणी बैसंतरु,	**गावनि तुधनो**, **पवणु** पाणी बैसंतरु,
गावै राजा धरमु, दुआरे।।	गावै राजा धरमु, दुआरे।।
गावहि चितु गुपतु, लिखि **जाणहि**,	**गावनि तुधनो** चितु गुपतु, लिखि **जाणनि**,
लिखि लिखि धरमु **वीचारे**।।	लिखि लिखि धरमु **बीचारे**।।
गावहि ईसरु, **बरमा,** देवी,	**गावनि तुधनो** ईसरु, **ब्रहमा**, देवी,
सोहनि सदा सवारे।।	सोहनि **तेरे** सदा सवारे।।
गावहि इंद इदासणि बैठे,	**गावनि तुधनो इंद्र इंद्रासणि** बैठे,
देवतिआ दरि नाले।।	देवतिआ दरि नाले।।
गावहि सिध समाधी अंदरि,	**गावनि तुधनो** सिध समाधी अंदरि,
गावनि साध **विचारे**।।	गावनि **तुधनो** साध **बीचारे**।।

गावनि जती, सती, संतोखी,
गावहि वीर करारे।।
गावनि पंडित पड़नि **रखीसर,**
जुगु जुगु वेदा नाले।।
गावहि मोहणीआ मनु मोहनि,
सुरगा मछ पइआले।।
गावनि रतन उपाए तेरे,
अठसठि तीरथ नाले।।
गावहि जोध, महाबल सूरा,
गावहि खाणी चारे।।
गावहि खंड, मंडल, **वरभंडा,**
करि करि रखे धारे।।
सेई **तुधुनो गावहि**, जो तुधु भावनि,
रते तेरे भगत, रसाले।।
होरि केते गावनि, से मै चिति न आवनि,
नानकु किआ **वीचारे**।।
सोई सोई सदा सचु, साहिबु साचा,
साची नाई।।
है, भी होसी, जाइ न जासी,
रचना जिनि रचाई।।
रंगी रंगी भाती, करि करि,
जिनसी माइआ जिनि उपाई।।
करि करि **वेखै,** कीता आपणा,
जिव तिस दी वडिआई।।
जो तिसु भावै, सोई करसी,
हुकमु न करणा जाई।।
सो पातिसाहु, साहा **पातिसाहिबु,**
नानक, रहणु रजाई।।२७।।

गावनि **तुधनो** जती, सती, संतोखी,
गावनि तुधनो वीर करारे।।
गावनि **तुधनो** पंडित पड़नि **रखीसुर**,
जुगु जुगु वेदा नाले।।
गावनि तुधनो मोहणीआ मनु मोहनि,
सुरगु मछु पइआले।।
गावनि **तुधनो** रतन उपाए तेरे,
अठसठि तीरथ नाले।।
गावनि तुधनो जोध, महाबल सूरा,
गावनि तुधनो खाणी चारे।।
गावनि तुधनो खंड, मंडल, **ब्रहमंडा**,
करि करि रखे **तेरे** धारे।।
सेई **तुधनो गावनि**, जो तुधु भावनि,
रते तेरे भगत, रसाले।।
होरि केते **तुधनो** गावनि, से मै चिति न आवनि,
नानकु किआ **बीचारे**।।
सोई सोई सदा सचु, साहिबु साचा,
साची नाई।।
है, भी होसी, जाइ न जासी,
रचना जिनि रचाई।।
रंगी रंगी भाती, करि करि,
जिनसी माइआ जिनि उपाई।।
करि करि **देखै**, कीता आपणा,
जिउ तिस दी वडिआई।।
जो तिसु भावै, सोई करसी,
फिरि हुकमु न करणा जाई।।
सो पातिसाहु, साहा **पतिसाहिबु**,
नानक, रहणु रजाई।।१।।

परिशिष्ट -७

सारग महला ५ असटपदी घरु ६

ੴ सतिगुरप्रसादि।। अगम अगाधि सुनहु जन कथा ।। पारब्रहम की अचरज सभा।।१।। रहाउ ।। सदा सदा सतिगुर नमसकार।। गुर किरपा ते गुन गाइ अपार।। मन भीतरि होवै परगासु।। गिआन अंजनु अगिआन बिनासु।।१।। मिति नाही जा का बिसथारु।। सोभा ता की अपर अपार।। अनिक रंग जा के गने न जाहि।। सोग हरख दुहहू महि नाहि।। २ ।।अनिक ब्रहमे जा के बेद धुनि करहि।। अनिक महेस बैसि धिआनु धरहि।। अनिक पुरख अंसा अवतार।। अनिक इंद्र ऊभे दरबार ।। ३।। अनिक पवन पावक अरु नीर।। अनिक रतन सागर दधि खीर।। अनिक सूर ससीअर नखिआति।। अनिक देवी देवा बहु भांति।। ४ ।।अनिक बसुधा अनिक कामधेन।। अनिक पारजात अनिक मुखि बेन।। अनिक अकास अनिक पाताल।। अनिक मुखी जपीऐ गोपाल।। ५ ।। अनिक सासत्र सिम्रिति पुरान।। अनिक जुगति होवत बखिआन।। अनिक सरोते सुनहि निधान।। सरब जीअ पूरन भगवान।। ६ ।।अनिक धरम अनिक कुमेर।। अनिक बरन अनिक कनिक सुमेर।।अनिक सेख नवतन नामु लेहि।। पारब्रहम का अंतु न तेहि।। ७ ।।अनिक पुरीआ अनिक तह खंड।। अनिक रूप रंग ब्रहमंड।। अनिक बना अनिक फल मूल।। आपहि सूखम आपहि असथूल।। ८ ।। अनिक जुगादि दिनस अरु राति।। अनिक परलउ अनिक उतपाति।। अनिक जीअ जा के ग्रिह माहि।। रमत राम पूरन स्रब ठांइ ।। ९।। अनिक माइआ जा की लखी न जाइ।। अनिक कला खेलै हरि राइ।। अनिक धुनित ललित संगीत।। अनिक गुपत प्रगटे तह चीत ।। १० ।।सभ ते ऊच भगत जा कै संगि।।आठ पहर गुन गावहि रंगि।।अनिक अनाहद आनंद झुनकार।। उआ रस का कछु अंतु न पार ।। ११ ।।सति पुरखु सति असथानु।। ऊच ते ऊच निरमल निरबानु।। अपुना कीआ जानहि आपि।। आपे घटि घटि रहिओ बिआपि।। क्रिपा निधान नानक दइआल।। जिनि जपिआ नानक ते भए निहाल ।।१२।।

श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ १२३५-३६

सारंग राग की अपनी इस अष्टपदी में, पंचम नानक, श्री गुरु अर्जुन देव जी ने वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमेश्वर की अत्यन्त विस्मयकारी सभा, सभा-स्थल, सभा-भवन अथवा

दरबार का मार्मिक वर्णन किया है। आइये इसके अर्थ-भाव को समझाने का प्रयास करें।

अगम अगाधि सुनहु जन कथा ॥ पारब्रहम की अचरज सभा॥१॥ रहाउ ॥

अर्थः हे लोगो अथवा भक्त जनो! अगम (मन, बुद्धि आदि की पहुँच से परे) और अगाध-अथाह (परमात्मा के यश की) कथा (वृतान्त या ज़िक्र) सुनो। (उस) वाहिगुरु की सभा (मजलिस, कचहरी अथवा दरबार) अद्भुत है, अत्यन्त विस्मयकारी है।। १ ।।रहाउ।।*

सदा सदा सतिगुर नमसकार।। गुर किरपा ते गुन गाइ अपार।।
मन भीतरि होवै परगासु।। गिआन अंजनु अगिआन बिनासु।।१।।

अर्थः (हे भक्त जनो!) सद्गुरु को सदा नमस्कार किया करो (अर्थात् उसके दर पर अथवा उसके आगे सदा अपना शीश झुकाया करो क्योंकि सद्गुरु) की कृपा से ही उस अपार (सीमा-रहित, अनन्त प्रभु) के गुन गाकर (सिख-साधक के) मन के अन्दर प्रकाश होता है (अर्थात् साधक को ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है)। सद्गुरु से (आध्यात्मिक) ज्ञान का अंजन या सुरमा प्राप्त होने पर अज्ञान का विनाश हो जाता है। (अर्थात् गुरु-प्रदत्त आध्यात्मिक शिक्षा को अपना लेने से मन की आँखों के सामने से अज्ञान रूपी अंधकार का पर्दा हट जाता है; आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक संबंध, उनके वास्तविक स्वरूप तथा भौतिक जगत् की अनित्यता आदि की अनुभूति हो जाती है।) ॥१ ॥

मिति नाही जा का बिसथारु॥ सोभा ता की अपर अपार।।
अनिक रंग जा के गने न जाहि।। सोग हरख दुहहू महि नाहि।।२॥

अर्थः (हे भक्त जनो!) जिस (वाहिगुरु अथवा परमात्मा) का यह (संसार रूपी) विस्तार (अथवा प्रपंच बनाया हुआ) है, उस (के सामर्थ्य) की कोई मित या सीमा नहीं है। उस (प्रभु) की शोभा (भी) अपरंपार है, बेअंत है। जिस (परमात्मा) के अनेक कौतुक, तमाशे अथवा क्रीड़ाएँ आदि गिने नहीं जा सकते वह स्वयं (इन क्रीड़ाओं आदि से होने वाले) हर्ष और शोक (नामी दोनों मनोभावों) से ऊपर रहता है। (अर्थात् परमात्मा कभी ग़मगीन, रंजीदा या शोकाकुल नहीं होता और न ही हर्षित होता है। वह सदा सम-चित्त, स्थिर-चित्त अथवा शांत रहता है।) ॥२ ॥

* गुरुवाणी में इस शब्द का प्रयोग बहुत बार किया गया है। संगीत में 'रहाउ' किसी गीत अथवा सबद के उस आरंभिक या बीच के चरण को कहते हैं जो गाते समय रह रहकर या बार-बार अन्तरा के पीछे-पीछे दुहराया जाता है। स्थाई, टेक, ध्रुव अथवा ध्रुवक इसके समानार्थक शब्द हैं। सारे सबद का केन्द्रीय भाव, प्रमुख विचार अथवा सिद्धान्त रहाउ वाले चरण में होता है। व्याख्या करते समय अर्थों आदि का क्रम भी रहाउ वाले चरण से ही शुरू किया जाता है। एक सबद में एक से अधिक रहाउ भी हो सकते हैं।

अनिक ब्रहमे जा के बेद धुनि करहि।। अनिक महेस बैसि धिआनु धरहि।।
अनिक पुरख अंसा अवतार।। अनिक इंद्र ऊभे दरबार ।। ३।।

अर्थः (हे भक्त जनो! उस वाहिगुरु का दरबार कितना आश्चर्यजनक है! उसके पैदा किये हुए) अनेक ब्रह्मा (उसके दर पर) वेदों की ध्वनि कर रहे हैं (अर्थात् प्रभु के यश-गान के रूप में वेदों का उच्चारण कर रहे हैं।) अनेकों शिव बैठ कर उसका ध्यान धर रहे हैं (अर्थात् समाधि लगाये हुए हैं या एकाग्र मन से प्रभु के चिन्तन, मनन में व्यस्त हैं। वहाँ (प्रभु परमात्मा की सभा में) कितने ही पुरुष अंशावतार हैं। (अर्थात् वहाँ अनेक छोटे-छोटे अवतार हैं जिनमें परमात्मा की शक्ति का थोड़ा-थोड़ा अंश मौजूद है। देवताओं के) अनेक राजा इन्द्र वहाँ (प्रभु परमात्मा के दर पर, उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा में) खड़े हुए हैं।।३।।

अनिक पवन पावक अरु नीर।। अनिक रतन सागर दधि खीर।।
अनिक सूर ससीअर नखिआति।। अनिक देवी देवा बहु भांति।।४।।

अर्थः (हे भक्त जनो, परब्रह्म परमात्मा की सभा में, उसके पैदा किये हुए) अनेक (प्रकार के) पवन, अग्नियाँ और जल हैं। वहाँ (प्रभु की सभा में)अनेक ही समुद्र दही, दूध और रत्नों से भरे पड़े हैं। (प्रभु की सभा में, उसके बनाये हुए) अनेक सूरज, चाँद और नक्षत्र (तारे, तारकपुंज अथवा तारा-मण्डल) हैं। (वहाँ उस सभा में) नाना प्रकार के देवी-देवता भी मौजूद हैं।।४।।

अनिक बसुधा अनिक कामधेन।। अनिक पारजात अनिक मुखि बेन।।
अनिक अकास अनिक पाताल।। अनिक मुखी जपीऐ गोपाल।। ५ ।।

अर्थः (हे भक्त जनो! प्रभु परमेश्वर की सभा कितनी आश्चर्यजनक है! वहाँ) अनेक धरतियाँ हैं, अनेक ही कामधेनुएँ हैं। (अर्थात् प्रभु की सभा में, स्वर्ग की इच्छा-पूरक मानी जाने वाली एक गाय नहीं, ऐसी अनेक गौएँ मौजूद हैं।) वहाँ (प्रभु की सभा में) अनेक ही पारिजात (स्वर्ग के, इच्छा-पूरक माने जाने वाले कल्प) वृक्ष हैं और अपने मुँह के साथ बाँसुरी बजानेवाले (कृष्ण) भी अनेक हैं। (वहाँ, परब्रह्म परमात्मा की सभा में) अनेक आकाश हैं और अनेक पाताल। (वहाँ प्रभु की सभा में) अनेक (जीवों आदि द्वारा) गोपाल (जगत-पालक, वाहिगुरु का नाम) जपा जा रहा है। (अर्थात् अनेकों जीव परमात्मा का नाम जपते रहते हैं।)।।५।।

अनिक सासत्र सिम्रिति पुरान।। अनिक जुगति होवत बखिआन।।
अनिक सरोते सुनहि निधान।। सरब जीअ पूरन भगवान।। ६ ।।

अर्थः (हे भक्त जनो! आम तौर पर छह शास्त्र, ३१ स्मृतियाँ और १८ पुराण माने जाते हैं

परन्तु वहाँ, परब्रह्म परमात्मा की सभा में) अनेकों शास्त्र, स्मृतियाँ और पुराण हैं। वहाँ अनेक ढंगों से परमात्मा का बखान किया जा रहा है। (अर्थात् अनगिनत धर्म-पुस्तकों की नाना प्रकार की व्याख्या करके, विद्वानों द्वारा, प्रभु के गुणों आदि के बारे में प्रवचन किये जा रहे हैं, व्याख्यान दिये जा रहे हैं और) अनेक ही श्रोतागण (उस) गुणनिधि (परब्रह्म, वाहिगुरु का यश अथवा उसके बारे में किये जा रहे नाना प्रकार के प्रवचनों, व्याख्यानों अथवा उपदेशों) को सुन रहे हैं। (हे भक्त जनो!) वह परब्रह्म परमेश्वर (किसी विशेष स्थान तक सीमित न होकर) सब जीवों में व्याप्त है, सर्वत्र विद्यमान है।।६।।

अनिक धरम अनिक कुमेर।। अनिक बरन अनिक कनिक सुमेर।।
अनिक सेख नवतन नामु लेहि।। पारब्रहम का अंतु न तेहि।। ७ ।।

अर्थ: (हे भक्त जनों! परमात्मा की उस आश्चर्यजनक सभा में, उस द्वारा पैदा किये हुए) अनेकों (मृत्यु और नर्क के देवता) धर्मराज अथवा यमराज तथा अनेक ही (यक्षों और किन्नरों के राजा तथा देवराज इन्द्र की निधियों के भण्डारी एवं धन और समृद्धि के स्वामी माने जाने वाले) कुबेर (देवता) हैं। (वहाँ, प्रभु की सभा में, जल के अधिपति माने जाने वाले) अनेकों वरुण हैं और अनेक ही (पर्वतों के राजा माने जाने वाले, स्वर्ण से बने हुए) सुमेरु पर्वत हैं। (हे भक्त जनो! आम तौर पर, विष्णु की शय्या कहा जाने वाला, सर्पराज शेषनाग केवल एक माना जाता है, परन्तु परमात्मा की उस अद्भुत् सभा में सहस्र फणों वाले) अनेक शेषनाग हर रोज़, निरंतर परमात्मा का नवीनतम नाम लेते हैं। परन्तु उनमें से किसी को भी हरि (के गुणों) का अंत या ओरछोर नहीं मिला। (अर्थात् एक शेषनाग नहीं अनेक शेषनागों द्वारा परमात्मा के नित्य नूतन नाम लिये जाने पर भी परब्रह्म, वाहिगुरु का स्वरूप पूरी तरह वर्णित नहीं हो सकता।)।।७ ।।

अनिक पुरीआ अनिक तह खंड।। अनिक रूप रंग ब्रहमंड।।
अनिक बना अनिक फल मूल।। आपहि सूखम आपहि असथूल।। ८ ।।

अर्थ: (हे भक्त जनो! प्रभु की विस्मयकारी सभा में, उस द्वारा रचे हुए केवल तीन या चौदह ही नहीं बल्कि) अनेकों लोक अथवा भुवन हैं। धरती के (केवल नौ खण्ड, अथवा मुख्य विभाग, न होकर) अनेकों खण्ड (वहाँ विद्यमान) हैं। (वहाँ, प्रभु की सभा में एक नहीं बल्कि) विभिन्न रूपों, आकारों तथा रंगों वाले अनेकों ब्रह्माण्ड हैं। वहाँ (विद्यमान जंगलों की संख्या भी सीमित नहीं है। वहाँ तो) अनेक ही जंगल हैं और उनमें उगने वाले फल, मूल (अर्थात् धरती में होने वाले, गाजर, मूली, कंदमूल आदि खाद्य-पदार्थ भी) अनेक हैं। (वास्तव में, वह आश्चर्य रूप वाहिगुरु) आप ही सूक्ष्म (अदृश्य या आकार-रहित) है और आप ही स्थूल (अर्थात् मूर्त्त, साकार अथवा विश्व रूप में दृश्यमान) है।।८ ।।

अनिक जुगादि दिनस अरु राति।। अनिक परलउ अनिक उतपाति।।
अनिक जीअ जा के ग्रिह माहि।। रमत राम पूरन स्रब ठांइ ।। ९।।

अर्थ: (हे भक्त जनो! परमात्मा की सभा में, दीर्घ काल के परिमाण रूपी अनेक) युग आदि हैं (अर्थात् प्रभु की रचना में युग केवल चार ही नहीं हैं, अनगिनत हैं)। दिन और रातें (भी) अनेक हैं। (वहाँ) अनेक प्रकार की प्रलयें हो रही हैं और अनेक प्रकार की (सृष्टियों की) रचनाएँ भी हो रही हैं। (अर्थात् वहाँ कई प्रकार के विनाश और नव-निर्माण हो रहे हैं।) परमात्मा ऐसा, बे-जोड़ गृहस्थी है कि उसके घर (संसार) में अनगिनत जीव (निवास करते हैं, जिनका निर्वाह उस पर निर्भर करता है; जिनका भरण-पोषण वह आप कर रहा है। अर्थात् सारी सृष्टि परम पिता परमात्मा का अपना परिवार है)। वह राम (सर्वव्यापी परमात्मा) सब जगह रमा, भरा अथवा समाया हुआ है—सब जगह मौजूद है।। ९ ।।

अनिक माइआ जा की लखी न जाइ।। अनिक कला खेलै हरि राइ।।
अनिक धुनित ललित संगीत।। अनिक गुपत प्रगटे तह चीत ।। १० ।।

अर्थ: (हे भक्त जनो! उस प्रभु की सभा कितनी विस्मयकारी है!) जिसकी (रची हुई) नाना प्रकार की माया लक्ष्य नहीं की जा सकती, समझी नहीं जा सकती, वह हरि राजा (बादशाह अथवा सम्राट्) अनेकों कलाओं (अथवा युक्तियों) द्वारा खेल खेल रहा है (अनेक प्रकार के कौतुक या लीलाएँ कर रहा है। आम तौर पर कलाएँ ६४ मानी गयी हैं परन्तु परमात्मा ऐसा कलाकार है जिसकी कलाओं की गिनती नहीं की जा सकती)। वहाँ (उसकी सभा अथवा दरबार में) अनेक प्रकार की सुमधुर ध्वनियों में ललित संगीत गूँज रहा है (अर्थात् वहाँ नाना प्रकार के बाजे बज रहे हैं और प्रभु की स्तुति के गीत गाये जा रहे हैं। न तो वहाँ बज रहे बाजों की गिनती सम्भव है और न गाने वालों की)। जीवों द्वारा किये हुए अच्छे और बुरे अथवा) प्रत्यक्ष और परोक्ष कर्मों के गुप्त चित्र (अथवा संस्कार, उस, प्रभु की कचहरी में अपने आप) प्रकट हो रहे हैं। (अर्थात् वाहिगुरु अथवा परब्रह्म परमेश्वर से कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता। सांसारिक कचहरियों में तो प्रस्तुत की गयी गवाहियों और सबूतों के आधार पर निर्णय किये जाते हैं परन्तु परमात्मा की कचहरी में इनकी कोई ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि हरेक जीव के हरेक प्रत्यक्ष और परोक्ष कर्म का साक्षी वह आप है)।। १०।।

सभ ते ऊच भगत जा कै संगि।। आठ पहर गुन गावहि रंगि।।
अनिक अनाहद आनंद झुनकार।। उआ रस का कछु अंतु न पार।। ११।।

अर्थ: (हे भक्त जनो!) वह (वाहिगुरु) सबसे ऊँचा है भक्त जिसे सब समय, सब जगह अपने साथ जानते हैं और आठों जाम प्रेम-पूर्वक जिसके गुण गाते रहते हैं।

(उसके दर पर) अनेक प्रकार के अनहत नादों (अर्थात् बिना आघात उत्पन्न होने वाली ध्वनियों) की आनन्दमय झनकार (अथवा वीणा, सितार आदि की-सी निरंतर ध्वनि) होती रहती है। (उस अनहत नाद की झनकार से मन में उत्पन्न होने वाले अद्‌भुत भाव, मनोदशाओं अथवा) आनन्द का कोई अन्त नहीं है, कोई पारावार नहीं है (कोई ओरछोर या सीमा नहीं है; वह आनन्द अखूट है, अक्षय है)।।११।।

सति पुरखु सति असथानु।। ऊच ते ऊच निरमल निरबानु।।
अपुना कीआ जानहि आपि।।आपे घटि घटि रहिओ बिआपि।।
क्रिपा निधान नानक दइआल।। जिनि जपिआ नानक ते भए निहाल।।१२।।

अर्थ: (हे भक्त जनो! जिस वाहिगुरु की सभा ऐसी विस्मयकारी है) वह परमेश्वर सत्य-पुरुष है। (अर्थात् वह सदा कायम रहने वाला है; वह सर्वव्यापी सत्ता है, कोई निधाकार कल्पना मात्र नहीं है)। उसका ठिकाना अथवा निवास-स्थान भी सत्य-स्वरूपवाला है; (अटल है, अर्थात् वह सदा-स्थिर सच-खण्ड में निवास करता है)। वह (परब्रह्म, वाहिगुरु) ऊँचों से ऊँचा (अर्थात् सबसे ऊँचा) है, निष्कलंक है और सदा अनासक्त अथवा निर्लिप्त रहता है। अपनी रचना (अथवा अपनी बनायी हुई सृष्टि) को वह आप ही जानता है। (इस रचना को उतनी अच्छी तरह और कोई नहीं जान सकता जितनी अच्छी तरह परमात्मा स्वयं जानता है क्योंकि) वह स्वयं घट-घट (अर्थात् हरेक घट, शरीर अथवा पिण्ड) में व्याप रहा है, (समाया हुआ है, मौजूद है। सबद के अन्त में, पंचम नानक, श्री गुरु अर्जुन देव जी, अपने आप को संबोधित करते हुए कहते हैं) हे नानक! (जिसकी सभा इतनी अद्‌भुत है वह) परमेश्वर कृपा-निधान है, कृपा का ख़ज़ाना है, परम दयालु है। जिन्होंने (अथवा जिस-जिस ने भी) उसको जपा (उसके नाम का जाप किया, उसकी याद अथवा हुजूरी में अपना जीवन बताया) वे (सभी) निहाल हो गये। (अर्थात् परमात्मा का नाम जपनेवाले, परमात्मा की हुजूरी में जीवन बितानेवाले, व्यक्ति हर प्रकार से तृप्त, पूर्णकाम अथवा सफल-मनोरथ होकर प्रसन्न-चित्त रहते हैं) ।।१२।।

परिशिष्ट-८

रागु गउड़ी चेती कबीर जी।।

देखौ भाई ग्यान की आई आंधी।।
सभै उडानी भ्रम की टाटी, रहै न माइआ बांधी ॥१॥ रहाउ ॥
दुचिते की दुइ थूनि गिरानी, मोहु बलेंडा टूटा।।
तिसना छानि परी धर ऊपरि, दुरमति भांडा फूटा।। १ ॥
आंधी पाछै जो जलु बरखै, तिहि तेरा जनु भीनां॥
कहि कबीर मनि भइआ प्रगासा, उदै भानु जब चीना ॥२॥ ४३॥

(श्री गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ ३३१)

इस पद में कबीर साहिब ने, झोंपड़ी से संबंधित टाटी, थूनि, बलेंडा, छानि आदि के बिम्बों का प्रयोग करके, रूपक द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान के उदय—dawn of higher knowledge— का निरूपण किया है। इस पद की व्याख्या करने से पहले, इसकी तीसरी पंक्ति में आये शब्द 'दुचिता' के अर्थ-भाव के बारे में कुछ विचार कर लेना ज़रूरी लगता है।

'दुचिता' अथवा 'दुचित्ता' का साधारण अर्थ है— वह व्यक्ति जिसका चित्त या मन दो परस्पर विरोधी विचारों में फँसा हुआ हो, जिसका मन किसी एक ओर या किसी एक विचार पर न टिकता हो, जो दुबिधा या असमंजस में पड़ा हुआ हो, जिसमें निश्चय, अर्थात् सन्देह-रहित ज्ञान, का अभाव हो अथवा जिसमें विश्वास की कमी हो। धार्मिक मुहावरे के अनुसार, दुचित्ता वह व्यक्ति है जो एक पल तो परमात्मा पर विश्वास करता है और अगले ही पल परमात्मा को भुलाकर अपने पर या किसी अन्य व्यक्ति अथवा शक्ति पर भरोसा करने लगता है। ऐसे व्यक्ति की वफ़ादारी अथवा निष्ठा परमात्मा और माया अथवा संसार के बीच बंटी रहती है। उसकी हालत एक ऐसे मनुष्य की तरह होती है जो परस्पर विरोधी दिशाओं में जाने वाली दो नावों में सवार होकर अपनी मंज़िल पर पहुँचना चाहता हो।

दुचित्ता व्यक्ति प्रत्यक्षत: परमात्मा से कई प्रकार की प्रार्थनाएँ और याचनाएँ करता तो है परन्तु उसे इस बात पर पक्का विश्वास नहीं होता कि परमात्मा जीवों की प्रार्थनाएँ सुनता है और उनकी इच्छाएँ पूरी भी करता है। हम जानते हैं कि निश्छल तथा सच्चे दिल, पूरी श्रद्धा और पूरे समर्पण के बिना वाहिगुरु से की हुई अरदास या प्रार्थना

फलीभूत नहीं होती। परमात्मा से की हुई कोई याचना पूरी न होने पर दुचित्ते व्यक्ति की परमात्मा में आस्था डगमगा जाती है। वह निरंकार की अपेक्षा संसार, किसी व्यक्ति, शक्ति या अपनी सामर्थ्य पर अधिक विश्वास करने लगता है। समय पाकर ऐसा व्यक्ति संसार को ही सब कुछ समझ बैठता है। वह परमात्मा के हुक्म अथवा इच्छा (divine will) की परवाह न करके अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने में उलझा रहता है।

दुचित्ता व्यक्ति धार्मिक उपदेश तो सुनता है परन्तु ऐसे उपदेश को एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देता है। वह सुने हुए उपदेश को अपने मन में बसाकर, उसके अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयास करने से हिचकिचाता है। वह असली मायने में धर्म-परायण व्यक्ति बनने की बजाय केवल धार्मिक व्यक्ति लगने का अभिनय या दिखावा करता है।

वास्तव में, परमात्मा से प्रेम का खेल खेलने के लिए अथवा परमात्मा की राह पर चलने के लिए कई प्रकार की कठिनाइयों का केवल सामना ही नहीं करना पड़ता बल्कि कई प्रकार की क़ुर्बानी भी देनी पड़ती है। इतिहास साक्षी है कि सच्चे साधक को कई बार तो अपनी जान देकर भी प्रभु-प्रेम की कीमत चुकानी पड़ती है। परन्तु दुचित्ते व्यक्ति से ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

सांसारिक आकर्षण, मोह और बहुविध प्रलोभन इतने प्रबल हैं कि कोई विरला मरजिया ही इनके प्रभाव से बच सकता है; कोई असली शूरवीर ही इनके विरुद्ध संघर्ष कर सकता है या इन्हें ठुकरा सकता है। अधिकतर लोग तो सांसारिक प्रपंच अथवा माया के जाल में फँसकर विषयासक्ति और बाह्याचार के सहारे अपना जीवन बिताते चले जाते हैं। उन्हें विषयों के भोग से और स्वार्थ-साधन के लिए किये जाने वाले झूठे दिखावे से फ़ुरसत ही नहीं मिलती।

आइये अब कबीर साहिब के उपरोक्त पद की एक-एक पंक्ति पर विचार करें।

देखौ भाई ग्यान की आई आंधी॥

अर्थ: (अचानक बाढ़ या आँधी आ जाने पर या किसी संकट आदि के समय चेतावनी, रक्षा अथवा सहायता के लिए गाँवों में जिस तरह पुकार मचाई जाती है, उसी शैली में लोगों को सम्बोधित करते हुए कबीर साहिब फ़रमाते हैं—ओ) भाइयो देखो (विवेक अथवा यथार्थ) ज्ञान की आँधी आ गयी है। (यहाँ आँधी शब्द का प्रयोग बहुत ही अर्थपूर्ण है। हम जानते हैं कि आँधी तेज़ हवा का एक विशेष रूप है। इसमें धूल-मिट्टी ख़ूब उड़ती है। कभी-कभी इसमें बादल भी मिले होते हैं। आँधी के कारण अकसर

अंधकार-सा छा जाता है और ठीक-ठीक दिखायी नहीं देता। अपने रास्ते में पड़ने वाले पेड़ों, खम्भों आदि को आँधी उखाड़ फेंकती है और झोंपड़ियों आदि की कच्ची छतों को उड़ा ले जाती है। आँधी वेग, हलचल और उथल-पुथल की प्रतीक है। अत: इस सबद की पहली पंक्ति में आया 'ग्यान की आई आंधी' वाक्यांश इस तथ्य को रेखांकित करता है कि 'ज्ञान' में आँधी जैसी तेज़ी होती है। इसमें पूर्व-निर्मित विचारों आदि को तुरन्त उखाड़ फेंकने, उलट-पलट अथवा नष्ट कर देने का बल होता है।)

सभै उडानी भ्रम की टाटी, रहै न माइआ बांधी ॥१॥ रहाउ ॥

अर्थः (जिस प्रकार, आँधी आने पर झोंपड़ी की दीवारें— अर्थात् छप्पर के चारों ओर, ज़मीन से ओरी तक, लगायी जाने वाली फूस, पतई, बांस अथवा फट्टियों आदि की बनी दीवारें— नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञान की आँधी आने पर,) भ्रम अथवा अयथार्थ ज्ञान की सारी टट्टियाँ (आवरण अथवा पर्दे जिन की ओट अथवा घेराबंदी में मनुष्य अपना सांसारिक जीवन बिताता है) उड़ गयी हैं, नष्ट हो गयी हैं। अब वे माया द्वारा बंधी नहीं रखी जा सकती। (अर्थात् यथार्थ ज्ञान के वेग अथवा तीव्र प्रवाह के कारण मानव मन का भ्रम उड़ जाता है, लुप्त हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि माया के कारण या माया के तीन गुणों की रस्सी के सहारे टिकी हुई वे भ्रम की टट्टियाँ अथवा पर्दे बंधे अथवा टिके नहीं रह सकते क्योंकि विवेक की आँधी के प्रवाह के सामने माया के तीन गुणों की वह रस्सी टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। इसका भाव यह है कि माया, अर्थात् संसार की आकर्षक, मोहक अथवा मोह-कारिणी शक्ति, जीव को सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट करके उन्हीं में फँसाये रखती है। इसी की वजह से मनुष्य भ्रम में खोया रहता है और अथार्थ ज्ञान अथवा अज्ञान-अंधकार में ठोकरें खाता रहता है। माया ही उसे अपने वास्तविक स्वरूप और संसार की वास्तविकता से भुलाये रखती है। परन्तु यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाने पर माया उसे अपने प्रभाव में नहीं रख सकती) ॥१॥रहाउ॥

दुचिते की दुइ थूनि गिरानी, मोहु बलेंडा टूटा॥

अर्थः (ज्ञान की आँधी आने पर माया की रस्सी अथवा माया के बन्धन टूट जाने के कारण) दुचित्ते के (अर्थात् द्वैध या दुबिधा में फँसे हुए जीव के, सांसारिक विषयों के भोग में रत रहने की प्रवृत्ति और बाह्याचरण— अर्थात् वह आचरण जो शुद्ध मन से न होकर स्वार्थ-साधन के लिए केवल दूसरों को दिखाने के लिए किया जाता है—) दोनों स्तून या खम्भे (जो छप्पर खड़ा रखने के लिए लगे हुए थे) गिर गये हैं। (इसका भाव यह है कि यथार्थ-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को विषयासक्ति और बाह्यचरण का

सहारा लेने से नजात मिल जाती है।) और (इन दोनों खम्भों के गिर जाने के कारण उन पर टिकी हुई) मोह* रूपी बँड़ेर भी टूट गयी है। (अर्थात् वह बल्ला—beam — भी, जो झोंपड़ी के बीचों-बीच, दो खम्भों पर, लगाया जाता है और जिस पर छप्पर या झोंपड़ी की छत टिकी होती है, ज्ञान की आँधी का झोंका लगने से धरती पर गिर कर टूट गया है। इसका भाव यह है कि भ्रम अथवा अयथार्थ ज्ञान में घिरे रहने के कारण मनुष्य अपने जीवन में विषयासक्ति— सांसारिक विषयों के भोग में रत रहने— और बाह्याचरण का सहारा लेता है। इसके फलस्वरूप उसकी सोच पर मोह सवार रहता है। विवेक अथवा यथार्थ-ज्ञान के प्रवाह के कारण मनुष्य की दुचिताई, भ्रम, मोह आदि नष्ट हो जाते हैं।)

तिसना छानि परी धर ऊपरि, दुरमति भांडा फूटा।। १ ॥

अर्थ: (जैसे किसी झोंपड़ी की बंड़ेर टूट जाने पर उसकी, घास, फूस आदि की बनी हुई, छत धरती पर आ गिरती है, उसी तरह मोह दूर हो जाने पर मन की) तृष्णा रूपी छत धराशायी हो गयी है। (अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं को पाने की तीव्र इच्छा नष्ट हो गयी है। इसका भाव यह है कि मोह ही मनुष्य की हर प्रकार की तृष्णा का आधार है। अत: मोह से छुटकारा मिलने पर सभी सांसारिक तृष्णाओं से भी छुटकारा मिल जाता है।

आँधी आदि के कारण अचानक छत गिर जाने पर उसके नीचे रखे हुए पात्र टूट-फूट जाते हैं; उनमें पड़ा हुआ गृहस्थी का सामान इधर-उधर बिखर जाता है और किसी काम का नहीं रहता। ठीक इसी तरह ज्ञान की आँधी आने पर मनुष्य के मन पर छाया हुआ तृष्णा रूपी छप्पर धराशायी हो जाने के कारण) कुबुद्धि रूपी घड़ा फूट गया है (और उसमें भरे हुए दुर्विचार— अर्थात् सांसारिक आसक्ति आदि से संबंधित विचार— बह गये हैं। इसका भाव यह है कि तृष्णा से छुटकारा मिल जाने पर कुत्सित विचारों वाली, अपना ही नुकसान करने वाली, संसार-मुखी, खोटी बुद्धि फूट जाती है उसमें से भ्रम, खोट आदि बाहर निकल कर उड़न-छू हो जाते हैं।) ॥१ ॥

आंधी पाछै जो जलु बरखै, तिहि तेरा जनु भीनां॥

अर्थ: (आम तौर पर जब आँधी के बाद वर्षा हो जाती है तो उससे धूल-मिट्टी बैठ जाती है, हवा साफ़ हो जाती है; वातावरण शान्त हो जाता है तथा मौसम में ताज़गी तथा

* मोह भी मानव मन का एक भ्रम है। यह मनुष्य को पारमार्थिक सत्य का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होने देता। इसी के कारण मनुष्य लौकिक पदार्थों को वास्तविक समझ लेता है और इन्द्रिय-जन्य सुखों के भोग को ही जीवन का मुख्य लक्ष्य मान कर सांसारिक जंजालों में फँसा रहता है।

सुहावनापन आ जाता है। कबीर साहिब इस अनुरूपता— analogy — का प्रयोग करते हुए फ़रमाते हैं कि ज्ञान की) आँधी के बाद जो (प्रभु-प्रेम, हरि-भक्ति अथवा परमात्मा के नाम की लगन का) जल बरसता है उस में तेरा सेवक भीग गया है (सराबोर अथवा तरबतर हो गया है। इसका भाव यह है कि विवेक अथवा आत्म-ज्ञान की बरकत से मनुष्य दुबिधा, भ्रम, वहम, मोह, तृष्णा और संसार-मुखी कुबुद्धि, आदि से छुटकारा पा लेता है। उसके मन में उठने वाले संसार-संबंधी संकल्प-विकल्पों की धूल बैठ जाती है, मन शान्त हो कर टिक जाता है; एकाग्र हो जाता है और वह परमात्मा की याद अथवा प्रेम में निमग्न अथवा तल्लीन हो जाता है।)

कहि कबीर मनि भइआ प्रगासा, उदै भानु जब चीना ॥ २॥

अर्थः (पद के अन्त में) कबीर साहिब फ़रमाते हैं। हे प्रभु! जब तेरे सेवक ने आत्म-ज्ञान के उदित सूर्य को देखा तो उसके मन में दिव्य प्रकाश छा गया। (इसका भाव यह है कि जब आत्म-ज्ञान प्रकट होने पर प्रभु का सेवक, प्रभु का भक्त अथवा कोई सच्चा साधक, अपने अन्दर झाँकता है तो अपने अन्तःकरण को दिव्य प्रकाश से पूरी तरह आलोकित पाता है। जैसे सूर्य उदय होने पर अन्धकार उड़ जाता है और चहुँ ओर प्रकाश फैल जाता है, उसी तरह जब आत्म-ज्ञान का सूर्य उदय होता है तो मनुष्य के मन का अज्ञान रूपी अन्धकार तिरोहित हो जाता है। अज्ञान का अवरण हट जाने पर साधक को आत्मा और परमात्मा के आपसी सम्बन्ध तथा भौतिक जगत् की अनित्यता एवं नश्वरता की अनुभूति हो जाती है। उसे ज्ञान हो जाता है कि उसका अपना वास्तविक स्वरूप क्या है।) ॥२॥४३ ॥

... the Japji, Guru Nanak's great poem, ... may well be classed with the Gītā, the Gāthās and a few other spiritual masterpieces. It is held to give an outline of all Sikh philosophy, it is the morning devotion on rising from bed, it is the most loved of all the Guru's hymns

— Duncan Greenlees

'जपुजी' आध्यात्मिक जगत् का अनमोल रत्न है। यह आध्यात्मिक अनुभूतियों का निचोड़ है। अत्यन्त सहज भाषा में अतीव प्रभावशाली ढंग से दुर्लभ ज्ञान को सुलभ बनानेवाले ग्रन्थों में यह बहुत ऊँचे स्थान का अधिकारी है ।....

'जपुजी' में श्रवण–मनन, नाम–नामी का प्रत्यय, जगत्–प्रपंच का मूल कारण, गुण–संकीर्तन, भगवन्महिमा आदि तत्त्वों को इतनी शक्तिशाली और सहज भाषा में कहा गया है कि शास्त्रीय प्रपंच एकदम म्लान लगने लगते हैं। ..... प्रत्येक पाठ के बाद इससे नया आलोक मिलता है।

— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

'जपुजी' में धर्म का निचोड़ रखा गया है। .... मुझे यह बहुत भाया है। .... उसका मुझपर बहुत गहरा असर पड़ा। रात में कभी स्वप्न आये तो उसमें भी गुरु नानक के वचन याद आते थे। चिंतन से उन वचनों का गहरा अर्थ मालूम होता है। इसका जितना चिंतन करो, उतना अधिक मिलता जाता है। मैं चाहता हूँ कि इस का असर हिन्दुस्तान के लोगों के चित्त पर हो।

— विनोबा